प्रकाशक
अ० वा० सहस्रबुध्दे
मन्त्री, अखिल भारत सर्व सेवा-सघ
वर्धा, (म० प्र०)

०

दूसरी वार १५,०००
कुल प्रतियां २०,०००
अगस्त १९५५
मूल्य चार आना

०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रस्तावना

गाधीजी की पुण्य-तिथि के अवसर पर सूताजलि की परिपाटी चलाकर सन्त विनोबा ने अखिल भारतीय पैमाने पर देश में श्रमद - आन्दोलन का श्रीगणेश किया। तव से श्रमदान की चर्चा फैलती गयी और आज देश मे व्यापक रूप से श्रमदान का आयोजन हो रह है। ससार में सवसे प्रचण्ड नदी कोशी [illegible] प्रयास मे श्रमद न के महत्त्व को देश ने अच्छी तरह [illegible] कोशी बाँधने के ही काम मे श्रमदान का सघटन व्यापक [illegible] हुआ, ऐसी वात नही, वल्कि विभिन्न प्रदेशों [illegible] योजनाएँ श्रमद[illegible] आधार [illegible] इस अवसर पर श्री शिवाजी भावे ने श्रमदान पर जो विवेचन किया है, वह सामयिक है।

वस्तुत सर्वोदय-समाज की वुनियाद श्रम है। यही कारण है कि विनोवाजी ने सूताजलि के एक गुण्डी सूत को सर्वोदय का एक वोट माना है। अगर सर्वोदय-समाज का ध्येय शासन-मुक्त समाज है तो ऐसे समाज का निर्माण पूंजी-मुक्ति के विना हो नही सकता। अत यह आवश्यक है कि सर्वोदय-समाज का सारा काम पूंजी-आधारित न होकर श्रम-आधारित हो।

स्पष्ट है कि शासन-मुक्त समाज कोई उच्छृखल समाज नही होगा। वह व्यवस्थित समाज ही होगा। व्यवस्थित समाज मे अगर शासन का निराकरण करना है तो वैसा समाज सचालित न होकर, सहकारी होगा। अव प्रश्न है कि सहकार किस वात का

और किनके बीच हो। मनुष्य और मनुष्य के बीच मे सहकार प्रत्यक्ष ही हो सकता है, अप्रत्यक्ष नही। अतः सहकार श्रम के लेन-देन के द्वारा ही हो सकता है, दूसरे तरीके से नही। अतः सहकारी समाज मे मुख्य सम्पत्ति श्रम की होगी और सामूहिक सम्पत्ति श्रमदान से ही बटोरी जा सकेगी।

दूसरी बात यह है कि सहकार समान स्तर के ही व्यक्तियो के बीच हो सकता है। असमानता से सहकार सम्भव नही। इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वोदय-समाज मे समाज के सभी मनुष्यो का आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर करीब-करीब समान हो। यह तभी हो सकता है, जब हरएक मनुष्य उत्पादन के काम मे लगा रहे और उसीके साथ-साथ सास्कृतिक तथा बौद्धिक विकास भी करे। हरएक मनुष्य उत्पादक श्रमिक बने और जीवन-मान ऊपर उठे, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए श्रम शक्ति का समझदारी मे विकास करना होगा। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य की प्रेरणा सतत श्रम की ओर ही हो।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी प्रेरणा मिले कैसे? हर आदमी समाज मे कुछ-न-कुछ प्रतिष्ठा चाहता है। समाज मे जिस वस्तु की प्रतिष्ठा होगी, लोगो की आकाक्षा उसीको प्राप्त करने की होगी। आज हर व्यक्ति श्रम-विमुख है। जिन लोगो की तकदीर में निरन्तर श्रम करना ही लिखा है, वे भी श्रम-विमुख है। वे अगर श्रम करते है तो मजबूरी के कारण, न कि उसके प्रति किसी आकर्षण के कारण। ऐसा इसलिए है कि समाज श्रम को हेय दृष्टि से देखता है। स्मृतियो और पुराणो ने शूद्र वर्ग को ब्रह्म के चरण से उद्भूत माना है। अर्थात् उसे अधम ही माना गया है।

ऐसे युग में श्रम की प्रतिष्ठा कैसे हो, यह मुख्य विचारणीय प्रश्न है।

श्रम-प्रतिष्ठा के अधिष्ठान के लिए यह आवश्यक है कि देश मे एक महायज्ञ का सम्पादन हो। यज्ञ मे आहुति की आवश्यकता है। श्रम-यज्ञ का यदि अनुष्ठान करना है तो उसके लिए आहुति भी श्रम की ही होनी चाहिए। यही कारण है कि वर्तमान युग का महायज्ञ श्रमदान-यज्ञ ही माना गया है।

सवाल यह है कि समाज के सारे कार्यक्रम में श्रमदान-यज्ञ का आयोजन हो कैसे तथा उसका स्वरूप और क्रम क्या हो? वैसे तो बापूजी तथा विनोबाजी ने देश के समक्ष अनेक प्रकार के श्रमयज्ञो के उदाहरण रखे है और प्रस्तुत पुस्तिका मे श्री शिवाजी ने भी "श्रमदान के प्रकार और विषय" शीर्षक के अन्तर्गत इस पर कुछ प्रकाश डाला है। किन्तु जब आज का जमाना सारे समाज का इस ओर आवाहन करता है, तो हमें इसकी अधिक व्यापक तथा सयोजित परिकल्पना करनी होगी, और यह परिकल्पना भी वर्तमान राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति के सिलसिले में ही तैयार करनी होगी, क्योंकि कोई भी योजना युग के मुख्य प्रवाह मे पृथक् होकर चल नही सकती।

आज देश और दुनिया के सामने मुख्य प्रश्न सामाजिक न्याय का है। मानव समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से के शोषण पर निर्भर है। सदियो के शोषण तथा निर्दलन के कारण बुनियादी मानव निपीडित, निस्तेज तथा बेहोश पडा है। ऐसे समाज में नवजीवन का सचार करना आज के युग की पुकार है। हमारी सारी योजना उस पुकार के जवाब मे ही होनी चाहिए।

काल-पुरुष की इस पुकार के जवाब में ही सन्त विनोवा ने भूमिदान-यज्ञ आन्दोलन चलाया है। इस आन्दोलन के समक्ष एक महान् उद्देश्य खड़ा है। देश की जनता वेकार है, भूखी है, उसे काम देना है। उसका पेट भरना है। प्रकृति की देन भूमि तथा सारे साधन मौजूद है, लेकिन केवल प्राकृतिक साधन ही हमारी आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकते। उस पर श्रम के प्रयोग के विना आवश्यकताएं पूरी हो ही नही सकती। प्रश्न केवल यह है कि यह श्रम सार्वभौम होगा या वाजार का सौदा मात्र। इसी प्रश्न को लेकर आज विनोवा निकले है। जिस श्रम के विना मनुष्य का जीवित रहना असम्भव है, वही श्रम जव वाजार के सौदे के रूप मे परिणत होकर पूंजी के कारागार मे वदी हो जाता है तो श्रम-देवता का अभिशाप ससार को आज की सकटपूर्ण स्थिति मे पहुँचाये तो इसमे आश्चर्य की कौन-सी वात है?

सत विनोवा ससार को इस परिस्थिति से मुक्त करना चाहते है और यही कारण है कि वे सर्वप्रथम प्रकृति देवी की मुख्य देन—भूमि को पूंजी के हाथ से मुक्त कर श्रम की सार्वभौम सत्ता के हाथ मे सौंपना चाहते है, जिससे वह श्रम-देवता के वाहन के रूप मे पूर्णरूप से फलवती हो सके।

अतएव श्रमदान-यज्ञ का आयोजन भूमिदान-यज्ञ की प्रगति के सिलसिले मे ही करना होगा और सारी योजना इसी आन्दोलन के पूरक तथा पोषक रूप मे वनानी होगी। इसके लिए देश भर मे व्यापक आन्दोलन चलाना होगा। यह सही है कि आज जो लाखो एकड़ भूमि भूमिहीनो को वितरित की जा रही है, उसके लिए साधन-दान तथा सम्पत्तिदान का आयोजन हो रहा है,

लेकिन सोचने की बात है कि इनकी शक्ति कितनी है? मनुष्यो के पास आज जो कुछ साधन और सम्पत्ति एकत्र हुई है, वह श्रमशक्ति द्वारा उत्पादित साधन का नगण्य अशमात्र है। उत्पादन का मुख्य अश तो उपभोग में चला जाता है। जो कुछ बचता है, उसे लोग इकट्ठा करके रखते है। हम साधनदान का जो आन्दोलन चला रहे है, वह उस बची हुई सामग्री में से कुछ अश-मात्र लेने का आन्दोलन है। उससे सन्त विनोवा द्वारा परि-कल्पित विराट् क्रान्ति का पेट नही भर सकता। जैसे, नदी का अनन्त प्रवाह चलता रहता है। हम उस स्रोत में से वाल्टी भर-कर घर में पानी एकत्र करते है, ताकि समय पर काम आये। सामान्य आवश्यकता पर हम उस एकत्र पानी से काम लेते भी है, लेकिन घर मे अगर आग लग जाय तो उसे बुझाने के लिए हमें सीधे उसी मूलस्रोत के पास जाना पडता है। आग लगने के लिए ही क्यो, खेतो को सीचने के लिए भी हमे उसी मूलस्रोत का सहारा लेना पडता है। इसी प्रकार अगर भूमिदान-यज्ञ का काम पुराने जमाने की तरह छोटी-मोटी सामान्य राहत का काम होता तो थोडे-बहुत साधनदान से भी काम चल जाता। लेकिन यह तो एक व्यापक क्रान्ति है। आज देश मे करोडो एकड भूमि हस्ता-न्तरित करनी है। ऐसी हालत मे भूमि-वितरण के उद्देश्य की सिद्धि साधन-दान और सम्पत्ति-दान से नही हो सकेगी। उसकी पूर्ति तो व्यापक श्रमदान-यज्ञ से ही होगी।

अतएव भूमि-वितरण के साथ-साथ व्यापक रूप से श्रमदान-आन्दोलन चलाना होगा। गाँव-गाँव में श्रमयज्ञ-समिति का निर्माण कर प्राप्त भूमि को तोडने, बाँध, आहर बनाने आदि के

कार्यक्रम इस यज्ञ के अभिन्न अग के रूप मे संघटित करने होगे। इसके लिए कार्यकर्ताओ को भी हर काम के साथ अपना श्रमदान जोडना होगा, ताकि वे जनता को इस अनिवार्य आवश्यकता की ओर प्रेरित कर सके। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार हर सेवक श्रमदान के काम मे लग सकता है। प्रस्तुत पुस्तिका के परिशिष्ट मे सेवाग्राम-आश्रम के श्री रेड्डी के तथा सूरत के श्री आप्टे के अनुभव दिये गये है। उनसे ज्ञात होगा कि अत्यन्त कमजोर व्यक्ति भी अगर सकल्पपूर्वक श्रम का अभ्यास शुरू करे तो वह भी चमत्कार कर सकता है। विनोबाजी द्वारा परमधाम पवनार में जो प्रयोग किए गए, उनसे सभी सर्वोदय सेवक और सर्वोदय से दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति अवगत है। उन प्रयोगो से भी हर कार्यकर्ता को प्रेरणा मिलती रहती है।

इसके अतिरिक्त कोशिश यह होनी चाहिए कि देश के सभी सार्वजनिक रचनात्मक कार्य तथा ऐसी सस्थाएं सेवको के श्रम तथा श्रमदान से ही चले। इसके बिना सर्वोदय-समाज की स्थापना के उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकेगी।

आज हमारे देश मे जो श्रमहीन तालीम चल रही है, उसकी विषमय परिणति देख देखकर सभी चिन्ताशील व्यक्ति भयभीत है। इसलिए तालीम के क्षेत्र मे उत्पादक श्रम का व्यापक सघटन अनिवार्य है। इस दिशा मे देश भर में तुरत सक्रिय कदम उठाने की आवश्यकता है। ऐसे समय यह पुस्तिका देश के प्रत्येक सेवक-सेविका को प्रेरणा देनेवाली सिद्ध होगी।

श्री शिवाजी ने इस पुस्तिका में श्रम की तात्त्विक मीमांसा की है। लेकिन आज देश और दुनिया की जो हालत है उसे देख

जो लोग श्री भावे द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो को नही भी मानते होगे, वे भी यह महसूस करेगे कि आज अगर सफल राष्ट्र-निर्माण करना है तो वह श्रमदान के आधार पर ही मफल हो सकेगा, काचन के भरोसे नही।

मुझे आशा है कि प्रत्येक पाठक इस पुस्तिका का गहराई से अध्ययन करेगा और जो जहाँ जिस परिस्थिति मे है, अपनी शक्ति तथा साधन क अनुसार इस महायज्ञ में अपनी आहुति प्रदान करेगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

अनुक्रम

(अ) सूताजलि — विनोबा — १३

(ब) श्रम-दान की योजना — ,, — १६

(स) श्रम-दान — ,, — २३

पहला प्रकरण

[श्रम-सम्बन्धी विवेचन]

१ विषय-प्रवेश — ३९

२ 'श्रम' शब्द का अर्थ — ३९

३ ससार मे श्रम का महत्त्व — ४०

४ विश्राम भी श्रम पर निर्भर — ४२

५ श्रमयुक्त कृषि और ग्रामोद्योगयुक्त वर्ण-व्यवस्था — ४४

६ शारीरिक श्रम से बचना समाजद्रोह — ४५

७ बौद्धिक श्रम के साथ उत्पादक श्रम जरूरी — ४६

८ चातुर्वर्ण्य की विकसित कल्पना — ४८

९ बापू और विनोबा आदर्श उदाहरण — ४८

१० श्रमपरक ही आश्रम-व्यवस्था — ५०

११ धन से श्रम का मूल्य अधिक — ५२

१२ श्रमयुक्त वस्तु के विनिमय का चलन हो — ५४

१३ 'काञ्चनमुक्ति'-प्रयोग — ५५

१४ श्रम-प्रतिष्ठा के लिए भूमि सबकी हो — ५६

१५ गांवो मे पक्के माल का भी श्रम — ५७

१६ श्रम मे स्त्री-पुरुष भेद नही — ५८

१७ यन्त्रो क प्रयोग में विवेक ५९
१८ विनाशक यन्त्रोत्पादन अनावश्यक ६१
१९ श्रमनिष्ठा का अन्तिम लक्ष्य ६२
२० सच्ची उच्च सस्कृति ६२

दूसरा प्रकरण

[दान-सम्वन्धी विवेचन]

२१ दान, मानवता और देवत्व ६४
२२ समाज में सदा दान-प्रवाह वहे ६५
२३ दान की सर्वोच्च भूमिका अहता-दान ६६
२४ दान में वस्तु से 'वृत्ति' महत्त्वपूर्ण ६६
२५ विचार और भावना का दान ६८
२६ सात्विक दान ही दैवी वस्तु ६९
२७ दान से सामाजिक कमी की पूर्ति ७०
२८ दान में दाता-प्रतिग्रहीता का वर्गभेद नही ७१

तीसरा प्रकरण

[श्रम-दान-सम्वन्धी विवेचन]

२९ श्रमदान सर्वश्रेष्ठ दान ७३
३० श्रमदान के लिए श्रमशक्ति का सग्रह आवश्यक ७३
३१ श्रमदान के प्रकार और विपय ७४
३२ श्रमदान की आचार-निष्ठा ७५
३३ कुछ आदर्श श्रमदान ७६
३४ श्रमदान का अन्तिम लक्ष्य ७६

परिशिष्ट

छोटी खेती का एक सफल अनुभव—श्रीगोविन्द रेड्डी ७७

श्रम-दान

सूतांजलि

[विनोबा]

सूताजलि पर लिखते हुए हरएक प्रात मे सूत्र-कूट-पर्वत खडा करने का विचार मैंने लोगो के सामने पेश किया था। कार्यकर्ताओ को वह आकर्षक मालूम हुआ और कई जगह हासिल हुई गुडियो का एक ढेर जमा करके उसको सूत्र-कूट-पर्वत के नाम से निर्दिष्ट किया गया और उसके फोटो लोगो ने मेरे पास भेजे। पर्वत तो वे नही थे, टीले भी नही थे। थे छोटे-छोटे ढेर ही। फिर भी मुझे अच्छा लगा, क्योकि लोकमानस मे कल्पना का आरोपण हो चुकने का वह सकेत था।

पिछले साल देश भर मे कुल गुडियाँ डेढ लाख के करीब हुई थी, जिनमे चालीस हजार अकेले गुजरात की थी। गुजरात के उत्साही जवानो ने इस साल के लिए संकल्प किया है—पचहत्तर हजार गुडियाँ प्राप्त करने का। जन-सख्या के हिसाब से एक प्रतिशत गुण्डी मिले, ऐसी उसमे कल्पना है। थोडे परिश्रम से गुजरात मे इतना काम हो सकेगा, इसमें कोई शका नही। गाधी-विचार का बीज उस भूमि मे गहरा बोया गया है।

जिस तरह गुजरातवालो ने सोचा है, उसी तरह हर प्रात में सोचा जा सकता है। बात इतनी ही है कि उसका एक सुव्यवस्थित आयोजन करना पड़ेगा और गाँव-गाँव पहुँचना पड़ेगा। सर्वोदय-विचार के प्रचार के विषय मे जो शक्तिशील वातावरण गाधीजी के

श्रम-दान की योजना

[विनोबा]

आप लोग जानते है कि सरकार ने हिन्दुस्तान की तरक्की के लिए एक योजना-समिति बनायी है। उसने पाँच साल के लिए एक योजना बनायी है। वह योजना ऐसी है कि सरकार कुछ गाँवो के क्षेत्र को चुनती है। वहाँ रास्ते बनाये जायेंगे, पानी का इन्तजाम होगा और अन्य काम होगे। पाँच लाख गाँवो में तो यह हो नही सकता, क्योकि यह तो बहुत भारी योजना हो जाती है, उसमे पैसे का सवाल आता है, इसलिए सरकार ने कुछ गाँव चुने है। योजना अच्छी है। परन्तु ऐसी कोई भी योजना तब तक सफल नही हो सकती, जब तक कि गाँववालो की ताकत से काम नही होता है। इसीलिए हम चाहते है कि पाँच लाख गाँवो में एक साथ काम हो। क्योकि हम गाँववालो के ही आधार पर काम करना चाहते है।

सर्वोदय का विचार

अगर पाँच लाख देहातो मे काम करना है, तो बाहर की मदद से काम नही हो सकता। सरकारी योजना मे तो आफिस का बहुत ज्यादा खर्च पडता है। बाहर से अफसर आते है। लोगो को लगता है कि अब ये ही काम करेगे। प्रभु का वरदान हमें मिला है तो प्रभु ही काम करेगा। इसीलिए गाँववालो का सहयोग उन्हें नही मिलता। उसके लिए क्षेत्र भी ऐसे चुने जाते है

जो मोटर के रास्ते पर पडे। दूर-दूर के गाँव नही चुने जाते। उस पर वहुत खर्च होता है। इस पर भी लोक-शक्ति जाग्रत न हो, और गाँववाले अपनी अक्ल, ताकत और दौलत से काम न करे तो जब तक वाहर से मदद मिलेगी तब तक काम चलेगा और फिर खत्म हो जायगा। इसीलिए सर्वोदय के माननेवालो का विचार है कि गाँव की ताकत से यह काम होना चाहिए और गाँव मे ताकत नही है, ऐसी वात नही है।

गाँव की ताकत

गाँव मे श्रम-शक्ति है, उसीसे पैसे का निर्माण होता है। गाँव की जरूरत की सारी चीजे गाँव मे पैदा हो सकती है। गाँव मे कपडा वन सकता है, मकान वन सकते है। इस पर भी जो थोडी-सी मदद वाहर से चाहिए, वह मिल सकती है। इस तरह वहुत सारा काम गाँव की अपनी निजी शक्ति से होना चाहिए। हम खाते है, तो अपने हाथो से खाते है, दूसरो के हाथो से नही खा सकते। खाया हुआ अपनी ही पचनेन्द्रियो से पचाते है, इसलिए हमारा भोजन दूसरा कोई पचायेगा, यह नही हो सकता। गाँव की अपनी ताकत वढेगी तभी गाँव मे स्वराज्य आयेगा। नही तो हर वात के लिए सरकार की तरफ देखना शुरू करे तो पुराने राजाओ के जमाने मे जैसा होता था, वैसा ही होगा। उस समय राजा अच्छा रहा तो प्रजा की हालत भी अच्छी रहती थी। इस तरह राजा पर सारा दारोमदार था। यह गुलामी की हालत खतम हो, इसीलिए तो हरएक को वोट का हक दिया गया है। लेकिन पेटी मे वोट डालने से ही स्वराज्य हो जाय, यह नही

हो सकता। जब तक हम अपने परिश्रम से अपने गाँव को सजाते नही, तब तक सिर्फ वोट देने से हम जैसे-के-तैसे रह जाते है। फिर तो यह होगा कि राजा का नाम गया और उसके बदले में मंत्री का आया।

भूमिदान क्यों?

वैसे तो सरकार भी कानून से जमीन ले सकती है। परन्तु हम इसीलिए घूमते है कि जो जमीन देंगे उनको हम अपना कार्यकर्ता बनायेंगे। जमीन देना याने छुट्टी पाना नही, जमीन देना याने सेवा का व्रत लेना है। बेजमीन को जमीन के साथ-साथ और भी मदद देनी होगी। यह सब कौन करेगा? गाँववालो में से ही जो जमीन देंगे वे और भी मदद देंगे। इसीलिए तो हम कहते है कि हमे हर गाँव के हर किसान से दानपत्र चाहिए। किसी गाँव से ९९% दानपत्र हासिल हुए और एक भी कम रहा, तो हम कहेंगे कि हमारा काम पूरा नही हुआ। क्योकि गाँव के बेजमीन लोगो की जिम्मेवारी गाँववालो की है, यही हम समझाना चाहते है। धर्म का आचरण हरएक को करना होता है।

गाँव स्वर्ग कैसे बने?

अपने गाँव को स्वर्ग बनाना हरएक का कर्तव्य है। इसीलिए हम जमीन का बँटवारा ग्राम-शक्ति से ही करना चाहते है। अक्सर लोग मुझसे पूछते है कि जमीन तो दी जा रही है, परन्तु और मदद कौन देगे? तो हम कहते है कि जो जमीन देंगे वे ही और मदद भी देंगे। हम सरकार से मदद नही लेंगे। हमें जमीन

सरकार ने थोडे ही दी है। जमीन तो लोगो ने दी है। बोने के वास्ते एक आये और काटने के वास्ते दूसरा आये, यह नही हुआ करता। जो बोयेगा वही काटेगा। इस तरह हम जमीन का बँटवारा और उसके साथ ग्रामोद्योग और नयी तालीम, सब चलाना चाहते है।

तालीम के लिए हम सरकार पर भरोसा नही रखना चाहते। सरकार स्कूल खोलती है तो उसमे बहुत पैसा खर्च होता है। लेकिन हम तो हर गाँव मे बिना पैसे का स्कूल खोलना चाहते है। वह एक घटे का स्कूल होगा। गाँव का कोई भी पढा-लिखा मनुष्य हर रोज एक घटा पढायेगा। उसके लिए उसको तनख्वाह नही दी जायगी। उसे साल भर मे थोडा-सा अनाज दिया जायगा। वह दिन भर अपना धधा करेगा और सिर्फ एक घटा पढायेगा। वैसे ही अगर गाँववाले चाहते है कि गाँव मे पोस्ट-आफिस खुले तो खुल सकता है। गाँव के ही किसी एक बच्चे को तैयार करके डाक लाने के लिए पोस्ट-आफिस के गाँव तक भेजा जाय तो गाँव मे हर रोज डाक आ सकती है। उसी तरह गाँववाले ही अपना दवाखाना गाँव मे खोल सकते है। औषधि के लिए पैसा परदेश भेजना गलत है। हम चाहते है कि गाँववाले मिलकर गाँव मे एक छोटा-सा वनस्पति का बगीचा लगाये और वनस्पति का ताजा रस बीमारो को दे। यह सबसे बेहतर तरीका है। बाहर की छह-सात महीने की पुरानी दवाइयाँ जीर्ण-शीर्ण होती है। उसी तरह खाद के लिए भी गढे बनाये जाँय और मनुष्य के मल-मूत्र का खाद बनाया जाय। इस तरह गाँववाले अपनी ताकत से सब कुछ कर सकते है। वे क्या नही कर सकते, यही सवाल पूछा जा सकता है।

सम्पत्ति-दान

इसके वाद तो सम्पत्ति की थोडी-सी मदद जरूरी है और वह गाँव में ही सम्पत्ति-दान के जरिये मिल सकती है। गाँव मे कम-से-कम चार-पाँच ऐसे व्यक्तियो का निर्माण हो, जो अपनी सम्पत्ति का छठा हिस्सा गाँव के लिए दान दे। इस तरह गाँव-वालो के सहयोग से सव कुछ हो सकता है। यही वात न्याय के लिए लागू होती है। अव तक न्याय के लिए लोग दूर-दूर के नगरो मे जाते है जिससे पैसा और समय की वर्वादी होती है। हम तो चाहते है कि गाँव के सज्जन मनुष्यो की राय से ही झगडे मिटाये जायं। लोग आज एक के वाद एक ऊपर के कोर्ट में जाते है। और 'आखिर के कोर्ट मे आपके अनुकूल फैसला नही हुआ, तो क्या करोगे ?'—यह सवाल पूछे जाने पर कहते है कि तव भगवान् का नाम लेगे। जव आखिर मे भगवान् का नाम ही लेना है तो पहले ही क्यो नही लेते ? यह सर्वोदय का विचार है।

सरकारी शक्ति की सीमा

आपका केवल गाँव के लिए वाहर की ताकत मे भरोसा रखकर शान्त वैठना गलत है। ग्राम-राज्य का मतलव यह है कि हम दूसरे किसीके कधो पर नही वैठेगे। आज स्वराज्य तो आया है, परन्तु गाँव पर शहरो की सत्ता चलती है और सरकारी योजना तो ऐसी वनी है कि जिस तरह माँ-वाप अपने वच्चो की फिक्र करते है, उसी तरह सरकार जनता की फिक्र करेगी। जो माँ-वाप होते है वे तो सव वच्चो की समान फिक्र करते है। परन्तु सरकार सव के लिये काम नही कर सकती। इसीलिए चन्द गाँव चुने

जाते है। किसीके घर मे ऐसा नही होता कि कुछ बच्चो को खिलाया जाय और कुछ को भूखो मरने दिया जाय। हमारा ढग ऐसा हो कि हम सबकी एक साथ सेवा करे। जैसे वर्षा हिन्दुस्तान भर मे एक साथ होती है तो पन्द्रह दिनो मे सारे हिन्दुस्तान को भिगो देती है। उसी तरह हर गाँव से बूंद-बूंद मदद मिलनी चाहिए।

हर घर हमारा बैंक

हम मानते है कि हर घर हमारा बैंक है। हर घर मे जो अक्ल, पैसा और ताकत है, वह सब हमारी है। आजकल हमारी सरकार के जो बैंक है, वे तो दस-पाँच के होते है। लेकिन हम तो मानते है कि हर घर मे और हर दिमाग मे हमारा बैंक है। हमे सिर्फ समझाने की देर है। गीता कहती है—'उद्धरेदात्मनात्मान' यानी अपना उद्धार खुद करना होता है। जो मरेगा वही स्वर्ग देखेगा। स्वर्ग देखना चाहते हो तो मरने की तैयारी करो। फिर सरकार की भी मदद मिलेगी। गाँव के टैक्स का ९९% पैसा सरकार गांव को ही दे देगी। उस हालत मे लोग टैक्स बढाने के लिए ही तैयार होगे। आज तैयार नही है, क्योकि जिस गाँव का पैसा उसी गांव मे खर्च नही होता। आज सरकार भी चाहती है कि लोगो के सहयोग से काम हो।

ग्रामराज्य की योजना

जिस गाव मे अधिक जमीन मिली है, उस गॉव मे ग्रामराज्य की योजना बनानी होगी। आज बाहर से सरकारी अफसर

गाँव मे जाते है। ऐसा हम नही चाहते। हम चाहते है कि दान देनेवाले दाता ही कायकर्ता बने। वे अपने घर का खायेंगे और हमारा काम करेंगे। इससे उन्हे इज्जत मिलेगी। जिसे आप जमीन देंगे, उसे दूसरी मदद देने की जिम्मेदारी भी आपकी ही है। आप परोपकार करना चाहते है, खाना खिलाते है और पानी नही पिलाते है, तो यह भी कोई धर्म है ? हम चाहते है कि हर गाँव से दानपत्र मिले। इसका मतलब है कि हर गाँव मे हमे कार्यकर्ता मिलेंगे। वाहर की मदद पर निर्भर रहोगे, और अमेरिका से भीख माँगोगे तो अमेरिका की मदद के साथ उसकी सत्ता भी आ जायेगी। इसलिए हम चाहते है कि गाँव की ही शक्ति से काम हो। गाँव के जो कार्यकर्ता होगे वे अपने घर का धधा छोडकर काम करेंगे, ऐसी वात नही है। वे घर का काम करते हुए गाँव की वातें सोचेंगे। गाँव मे हर रोज शाम को सभा होगी, जिसमे गाँव की भलाई की वाते सोची जायेगी। इस तरह हम मानते है कि जिन्होने हमे दान दिया, उन्होने गाँव की सेवा का व्रत लिया है। इसलिए आप लोग दवाव से दान न ले। आप दवाव से जमीन ले सकते है, पर जवरदस्ती से दाता को कार्यकर्ता नही वना सकते। हम तो चाहते है कि दान देनेवाले के मन मे परोपकार की भावना निर्माण हो और वह गाँव का सेवक वने।

श्रम-दान

[विनोबा]

बहुत खुशी है कि आज मजदूरो के इस क्षेत्र मे आप लोगो के दर्शन हो रहे है। सारी दुनिया मजदूरो के आधार पर बनी है। मैंने कहा था कि यह पृथ्वी शेषनाग के मस्तक पर स्थिर है। अगर शेषनाग का आधार टूट जाय तो पृथ्वी स्थिर नही रह सकेगी, वह जर्रा-जर्रा हो जायगी। यह शेषनाग कौन है? ध्यान मे आया कि दिन भर शरीरश्रम करनेवाले मजदूर, जो किस्म-किस्म की पैदावार करते है, वे ही शेषनाग हैं। सबका आधार उन मजदूरो पर है। इसलिए भगवान् ने मजदूरो को कर्मयोगी कहा है। लेकिन सिर्फ कर्म करने से कोई कर्म-योगी नही होता। हिन्दुस्तान मे कुछ मजदूर खेतो पर काम करते है, कुछ रेलवे मे काम करते है, कुछ कारखानो मे काम करते है। दिन भर मजदूरी करते है और अपने पसीने से रोटी कमाते है। जो शख्स पसीने से रोटी कमाता है, वह धर्म-पुरुष हो जाता है। उसके जीवन मे पाप का आसानी से प्रवेश नहीं हो सकता। दिन भर काम कर लेने पर रात को गहरी नीद आती है। न दिन मे पाप-कर्म करने के लिए समय मिलता है, न रात को कुछ सूझ सकता है, क्योकि थका-माँदा शरीर आराम चाहता है। उसे नीद की जरूरत होती है। जिस जीवन मे पापचिन्तन की गुन्जाइश ही न हो, वह धार्मिक जीवन होना चाहिए।

कर्मयोगी कैसे ?

पर यह अनुभव नही आ रहा है। अनुभव तो यह है कि जो काम नही करते, उनके जीवन मे तो पाप है ही, पर उन पापो ने मजदूरो के जीवन मे भी प्रवेश कर लिया है। कई प्रकार के व्यसन उनमे होते है। व्यभिचार भी करते है। याने केवल श्रम करने से कोई कर्मयोगी नही होता। हॉ, जो श्रम टालता है, वह तो कर्मयोगी हो ही नही सकता। उसके जीवन मे पाप है तो आश्चर्य नही, क्योकि उसके पास समय फाजिल पडा है। जहॉ समय फाजिल पडा है, वहाँ शैतान का काम शुरू होता है। इसलिए फुरसती लोगो के जीवन मे पाप दीखता है तो आश्चर्य नही, पर मजदूरी करनेवालो के जीवन मे पाप दीखता है तो सोचना चाहिए कि ऐसा क्यो होता है। ऐसा इसलिए होता है कि वे कर्म को पूजा नही समझते। लाचारी से करना पडता है इस-लिए कर्म करते है। वे अगर काम से मुक्त हो सके तो बहुत ही राजी हो जावेगे। सच्चे कर्मयोगी की यह हालत नही होती।

कमाकर ही खाना उचित

हम जेल गये थे। कुछ लोगो को सादी सजा थी। उन्हे मजदूरी करना लाजिमी नही था। वे लोग ऐसे ही बैठे रहते थे। खाने को मिलता था, खा लेते थे। हॉ, उन्हे दूसरो से पॉच तोला रोटी कम मिलती थी। उनकी शिकायत यह नही थी कि काम नही मिलता। वे तो खुश थे कि काम नही करना पडता। पर शिकायत यही थी कि दूसरो से पॉच तोला रोटी कम क्यो मिलती है। यह बात राजनैतिक कैदियो की कर रहा हूँ। हमने

उनके बीच निवास किया। उनके विचार समझ लिये और उन्हे समझाने की कोशिश की कि सरकार ने जो सादी सजा दी है, वह सादी नही, भयकर है। बिना काम किए खाना खुशकिस्मती नही, बदकिस्मती है। अग्रेजो का राज है, पर यह जो खाते है, वह अग्रेजो का नही खाते। वह तो अपने समाज का ही खाते है। उसके बदले में समाज को कुछ न देना गुनाह है। खुशी की बात है कि वे यह बात समझ गये और जब जेलर से काम माँगा तो जेलर को, सुपरिण्टेण्डेण्ट को आश्चर्य हुआ कि विनोबा ने यह क्या जादू किया।

कर्मयोगी की ही वाणी में शक्ति

जिन्हे काम दिया था वे काम टालने की कोशिश करते थे और जिन्हे काम नही दिया था वे मॉग करने लगे। यह दृश्य देखकर चमत्कार-सा मालूम होने लगा। हम जो राजनैतिक कैदी थे, सब ने जेल का सारा आटा पीसने का जिम्मा ले लिया था। खुशी से काम होता था। फौरन जादू ऐसी चली कि जेल आश्रम बन गया। रोज शाम को चर्चा चलती और इतवार को धर्म-चर्चा होती। गीता पर वहाँ मेरे प्रवचन हुए। वे ही आज किताब के रूप मे छपे है और हजारो लोग उसे लेते है। और लोगो के चित्त को समाधान मिलता, शान्ति मिलती, क्योकि जेल मे सभी कर्मयोग मे मग्न थे। ऐसे जो कर्मयोग मे मग्न होते है वे ही गीता का सार समझ सकते है और उनकी वाणी मे ताकत आती है।

जेल भी महल

जहाँ कर्मयोग की भावना जेल मे फैली वहाँ जेल, जेल मिट गया या यो कहिए कि जेल महल वन गया। और वहाँ जो रूखा-सूखा मिलता था, वह हराम का टुकडा नही, राम का टुकडा समझ कर खाते थे। जेल से जव विदाई का समय आया, तो सवको वहुत वुरा लगा। आज भी वे दिन याद आते है और लगता है, अव वैसा मौका वापस कव मिलेगा। अव तो स्वराज्य मिल गया है, तो सिवा चोरी करके जेल जाने का कोई उपाय ही नही है या फिर कम्युनिस्ट वनो। वाहर वही खाना-पीना, वही काम करना चलता है, पर जहाँ कर्म-योग का विचार आया, चित्त में यह वात पैठ गयी कि विना काम किये खाना पाप है वहाँ सारा पाप मिट जाता है और विप का अमृत वनता है। हिन्दुस्तान में क्या, सारी दुनिया मे फसल मजदूरो से ही होती है। इसलिए हरएक के लिए काम करना लाजिमी है।

काम से घृणा क्यों ?

आज देहाती लोग भी कहते है कि हमारे वच्चो को तालीम मिलनी चाहिए। तालीम किसलिए मिलनी चाहिए? इसलिए नही कि लडका ज्ञानी वनेगा, धर्मग्रन्थ पढ सकेगा और जीवन मे हरएक काम विचारपूर्वक करेगा। पर इसलिए कि लडके को नौकरी मिलेगी और हम जैसे दिन भर खटते है, वैसे उसे खटना न पडेगा। मजदूर भी ऐसा सोचते है। काम के प्रति ऐसी घृणा मजदूरो मे भी है। काम न करनेवालो मे तो है ही।

दिमागी काम करनेवाले लोग मजदूरो को नीच समझते है। थोडा-सा काम लेने के लिए जितनी मजदूरी देनी पडेगी उतनी देगे, पर ज्यादा-से-ज्यादा काम लेगे। ऐसी वृत्ति ही वन गयी है। याने उन्हे तो काम से नफरत है ही, पर मजदूरो को भी काम से नफरत है। वह मजदूरी तो करता है पर उसमे उसे गौरव नही लगता। किसी मेहतर से पूछो कि क्या करते हो, तो वह वडे दुख से कहेगा कि मेहतर का काम करता हूँ।

सभी माता-पिता चाहते है कि लडकी अच्छे घर मे जाय। अच्छे घर का मतलव जहाँ लक्ष्मी हो, जिस घर मे पानी भी नही खीचना पडे। जहाँ पानी भी नही खीचना पडता, वहाँ अनाज भी नही पचता और डाक्टरो के विल भरने पडते है।

पार्वती की श्रमनिष्ठा

पार्वती ने कहा था कि मै तो शकर को ही वरूँगी। वड़े-वडे ऋषि-महर्षियो ने उससे कहा कि शकर फकीर है, वहाँ जा कर क्या करोगी? किसी अच्छे घर मे जाना। तो उसने कहा, मुझे उसीके यहाँ जाना है।

रामायण की कहानी

रामायण मे भी एक कहानी है। अच्छी है। सुनने लायक है। रामजी को वनवास हुआ तो सीताजी ने कहा, मै भी जाऊँगी। उसे आदत तो नही थी ऐसे जीवन की, पर उसने निश्चय किया था कि जहाँ रामजी वहाँ मै। पर जव कौसल्या ने सुना तो कहा, राम जायगा और सीता भी जायगी तो सीता का कैसे होगा?

मैंने तो उसे दीप की वाती भी जलाने नही दी। याने यहाँ भी काम की प्रतिष्ठा मानी नही गयी। इसमे अच्छाई भी है कि ससुर के घर लडकी गयी तो उसे वेटी के समान माना, पर मेहनत को हीन माना गया, यह इसमे दीखता है।

काम और खेल

कहते है, लडको के खेलने का समय है तो खेलने ही देना चाहिए, काम नही देना चाहिए। तालीम का समय है तो तालीम ही लेने देना चाहिए, काम नही देना चाहिए। तालीम के साथ-साथ काम देते है तो वह फैक्टरी वन जाती है। माँ भी अपने वच्चे से कहती है कि वेटा, तू पढ, अभ्यास कर। काम तो लडकी करेगी।

स्कूल मे शिक्षा पढायेगे, विद्यार्थी पढेगे, पर सफाई तो नौकर ही करेगा। कचरा करने का काम अध्यापको का और साफ करने का काम नौकर का।

महाभारत का उदाहरण

धर्मराज ने राजसूय यज्ञ किया था। कृष्ण भी वहाँ गये थे। कहने लगे, मुझे भी काम दो। धर्मराज ने कहा, आपको क्या काम दे, आप तो हमारे लिए पूजनीय है, आदरणीय है। आपके लायक हमारे पास कोई काम नही है। भगवान् ने कहा, आदरणीय है तो क्या नालायक है? हम काम कर सकते है। तो धर्मराज ने कहा, आप ही अपना काम ढूढ लीजिए। तो जानते है, भगवान् ने क्या काम लिया? जूठी पत्तलें उठाने का और लीपने का।

शरीरश्रम न करें तो ?

यह उदाहरण हमारे सामने है, किन्तु फिर भी विद्यार्थी, प्रोफेसर काम नही करेंगे। व्यापारी काम नही करेगा। वह तो केवल लिखा-पढी करेगा। दस के सौ बनाना है तो दसगुना काम नही करना है, उसे तो केवल एक शून्य दस पर रख देना है। और जो ज्ञानी है उनका काम करना तो बहुत बुरी बात है। ज्ञानी तो खा सकते है और आशीर्वाद ही दे सकते है। काम नही कर सकते। अगर कोई सवेरे उठकर पीसता है तो वह ज्ञानी नही, मजदूर कहलाएगा। ज्ञानी को, योगी को काम नही करना चाहिए। बूढो को काम से मुक्त रखना ही चाहिए। बूढो को काम देना निठुरता मानी जायगी। यानी बूढा, बच्चा, योगी, ज्ञानी, व्यापारी, वकील, अध्यापक, विद्यार्थी, किसी को काम नही करना चाहिए। इतना बडा बेकार-वर्ग खडा हो जायगा तो बेकारी बढेगी। अगर ऐसा होता कि जो काम नही करता वह खाता ही नही तो कुछ ठीक था, पर यह तो अधिक खाने को मांगता है। ऐसी समाज-रचना जहां हुई है वहां मजदूर समझते है कि हमे भी काम करने से छुट्टी मिले तो अच्छा होगा। ऐसा समाज जहां लाचारी से काम करता है, उसमे कर्मयोगी हो ही नही सकते। जो काम टालते है, जो काम नही करते है, उनका जीवन भी धार्मिक नही होता। इस तरह हमारा समाज दुराचारी बन गया है। इसी कारण समाज मे श्रम की प्रतिष्ठा नही रही।

श्रम-प्रतिष्ठा

ऐसे समाज मे लोग जाकर समझाते है कि श्रम करना चाहिए। श्रम की वहुत प्रतिष्ठा है। तो लोग कहेंगे आप कहते है श्रम करना चाहिए। श्रम की प्रतिष्ठा करनी है तो आप क्यो नही श्रम करते? हम कहते है, हम दूसरा काम करते है इसलिए हमे श्रम नही करना चाहिए। तो भाइयो, यह जरा सोचने की वात है।

वकील की मिसाल

वकील की ही वात लीजिए। हम यह नही कहते कि सभी वकील अप्रामाणिकता से वकीली करते है। कुछ सचाई से भी वकीली करते होगे, प्रामाणिकता से काम करते होगे, पर हम पूछते है वकीलो से कि आपको भगवान् ने भूख दी है तो काम क्यो नही करते? काम नही करते इसका कारण यह है कि जो दिमागी काम करते है उन्होने दिमागी काम की महत्ता इतनी वढा दी है कि उसे हजार रुपया देना ही उचित मानेंगे और श्रम करनेवालो को कम-से-कम देने की कोशिश करेगे। शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा ही मानो, पर महात्मा गांधी तो दिमागी काम करते थे, फिर भी प्रतिदिन थोडा-सा समय निकाल कर सूत कात ही लेते थे। काम की इज्जत करनी चाहिए। अगर हम काम की इज्जत नही करते तो वडा भारी धर्म-कार्य खोते है ऐसा समझना चाहिए। यह दूसरी वात है कि कुछ दिमागी काम ज्यादा करेंगे और कुछ दिमागी काम कम करेंगे। पर श्रम करनेवालो को भी दिमाग है और दिमागी काम करने

वालो को भी हाथ है तो दोनो को दोनो काम करने चाहिए। तभी दोनो की इज्जत बढेगी, प्रतिष्ठा बढेगी।

काम-काम में भेद क्यों?

दूसरी बात यह कि दिमागी काम का और श्रम का मूल्य जो कम-ज्यादा रखा है, वह ठीक नही है। पहले तो ऐसी व्यवस्था नही थी। ब्राह्मण जो ज्ञानी होता था, पढाता था। वह सिर्फ धोती और खाने का अधिकारी था। वह अपरिग्रही माना गया। पर आज तो जो भी विद्या पाता है, वह उसका मूल्य माँगता है। विद्या वेचने लगे है। यह गलत है। "कर्मयोग" की महिमा, श्रम की प्रतिष्ठा कायम करनी है, तो कीमत में अधिक फर्क नही करना चाहिए।

शरीरश्रम करनेवालो को हम नीच मानते है। उन्हे किसी प्रकार की छुट्टियाँ नही दी जाती। मेहतर को अगर एक दिन भी छुट्टी दे तो सारा शहर गंदा हो जायगा। इतना जो उपकारी है उसे हम नीच मानते है। उसे साफ रहने के लिए साबुन आदि भी नही देते। न उसकी इज्जत है, न प्रतिष्ठा है, न सम्मान है। मेहतर माने क्या? मेहतर माने तो—"महत्तर"। ऐसा जो महत्तर है उसे हमने नीच माना।

मेहतर और माता की समता

मेहतर को तो नीच माना ही पर अपनी जो माता है उसे भी हमने नीच माना। शास्त्रो मे आया है कि दस उपाध्याय की बराबरी मे एक शिक्षक और सौ शिक्षको की बराबरी मे एक पिता और हजार पिताओ से भी एक माता बढकर है। ऐसा

गौरव है माता का। यह तो शास्त्र की बात है। पर हम स्त्रियो को हीन मानते है। स्त्रियाँ खेत पर मजदूरी के लिए जाती है तो उन्हे मजदूरी कम देते है। स्त्रियो को तो ज्यादा देनी चाहिए, क्योकि उन्हे घर का भी सब काम देखना होता है। बच्चो का लालन-पालन करना होता है। ज्यादा तो नही ही देते, पर बराबरी का भी नही देते। हर जगह स्त्रियो को कम मजदूरी दी जाती है। स्त्रियो को भार समझते है। स्त्रियाँ रात-दिन काम करती है, फिर भी उनका भार लगता है, क्योकि काम की प्रतिष्ठा ही नही है। कहते है, स्त्रियाँ उत्पादन का काम नही करती, सिर्फ रसोई करती है। हम तो सिर्फ रसोई क्या है यह समझते नही। रसोई उत्पादन का काम नही तो क्या बढई का काम उत्पादन का है? बढई क्या करता है? काठ लेता है और उससे नयी चीज बनाता है। वैसे ही स्त्री आटा लेकर रोटी बनाती है। अगर नयी चीज पैदा करने को उत्पादन कहो तो ब्रह्मदेव के सिवा उत्पादन करनेवाले किसी और का हमे पता नही। किसान क्या करता है? परमेश्वर का पैदा किया बीज खेत मे बोता है। उससे हजार गुना पाता है तो वह भी तो परमेश्वर ही करता है। काठ की खुरपी बनाना, चमडे का जूता बनाना याने एक चीज का दूसरी मे रूपातर करना। हम नयी चीज नही बना सकते। हम खुद ही बनाये गये है। हम कृति है, कर्ता नही है।

शरणार्थियों के बीच

जैसे काठ की खुरपी बनाना, काठ का रूपातर करना है वैसे ही गेहूँ का आटा बनाना, रोटी बनाना गेहूँ का रूपातर है। क्या

इसे उत्पादन तव समझेगे जव हमारी माताएं, वहने कहेगी कि हम रोटी वनायेगे वगर्ते कि हमे अठारह आना रोज मिले।

हम आरभ मे शरणार्थियो मे घूमते थे। सरकार ने पहले उन्हे कोई काम नही दिया था। आटा मिलता था और उसीकी रोटी वनाकर खाते थे। हमने देखा कि वहाँ के सारे लोग इधर-उधर वैठे है, हुक्का पी रहे है, मजा कर रहे है। पर स्त्रियाँ काम ही कर रही थी। वे वेकार नही थी। क्योकि उन्हे पानी लाना, चूल्हा लीपवाना, रोटी पकाना पडता था। याने स्त्रियाँ कितनी भाग्यवान है। वेकार जमात की स्त्रियाँ भी वेकार नही। पर स्त्रियाँ अपने को भाग्यवान नही समझती। वे तो यही कहती है कि पिछले जन्म मे कोई पाप किया था, जो स्त्री का जन्म मिला।

ब्राह्मण और शूद्र

पुराने जमाने मे ब्राह्मण को और शूद्र को अलग-अलग पैसा मिलता था। दोनो के काम मे भिन्नता थी। पर शास्त्रो मे यह भेद नही था। शास्त्रो मे तो कहा है कि दोनो को समान मोक्ष मिलेगा, अगर प्रामाणिकता से अपना-अपना काम करेगे।

आज तो प्रोफेसर की इज्जत भी ज्यादा और उसे पैसा भी ज्यादा दिया जाता है। इसलिए दो वाते होनी चाहिए। हरएक को कुछ-न-कुछ श्रम करना ही चाहिए। अगर विना काम किये खाते है तो हमारा जीवन पापी वनता है और दूसरे कामो का मूल्य समान होना चाहिए। यह जव होगा तव श्रम की प्रतिष्ठा होगी। आज तो श्रम करनेवाले कहते है कि हमे ज्यादा छुट्टियाँ मिलनी चाहिए। आठ घण्टे काम करना पडता है। उसके वजाय सात

घण्टा काम होना चाहिए। और छह घण्टा हो जाय तो और भी अच्छा। ऐसा सब क्यो हो रहा है ? इसलिए कि ऊपर के वैसा करते है। प्रोफेसर साल भर मे छह माह छुट्टी लेते है। मेहतर को तो छुट्टी दे ही नही सकते, पोस्टमैन को छुट्टी देकर क्या किया ?

वेकारी और मनोरंजन

वेकारी वढी है तो उन्हे रिझाने के लिए सिनेमा शुरू किये गये। वेकारो को उद्योग तो नही मिला, उनका तो वह मनोरजन हुआ और सिनेमावालो का उद्योग हो गया। इतने वुरे-वुरे सिनेमा चले है कि पूछिए मत। पर कोई रोकता नही। कहते है, रोकना तो विधान के खिलाफ होगा। यह सव हमें मिटाना है और इसीलिए हमने भू-दान-यज्ञ और सपत्तिदान-यज्ञ शुरू किया है।

हम कहते है कि जमीन की मालकियत रखना गलत है। हवा, पानी, सूरज की रोशनी का कोई मालिक नही हो सकता। पर हुआ यह है कि मजदूरो के लिए छोटी-छोटी कोठरियाँ वनाते है। मजदूरो को हवा की आवश्यकता कम है, ऐसा कहते है। तो हम कहते है कि मालिक और मजदूर को समान नाक क्यो दी गयी ? मालिक को दस नाक और मजदूर को एक नाक रहती तो कुछ समझ सकते थे, पर ऐसा नही है। हरएक को एक ही नाक है तो मकान मे फर्क क्यो ? हाँ, फर्क तो यह हो सकता है कि मालिक काम नही करते तो उन्हे पचता नही और मजदूर को पचता है ।

समाज में दर्जे क्यों ?

समाज ने दर्जे बना लिये हैं। उनको हमें दूर करना है, इसलिए हम कहते हैं कि मालकियत की यह बात गलत है कि यह दस हजार एकड का मालिक, यह पाँच हजार का मालिक और इसके पास कुछ नहीं। इसलिए संपत्ति और जमीन का बँटवारा होना चाहिए। इसलिए हमने एक फच्चर डाल दिया है और उससे 'साम्ययोगी समाज' बनाना चाहते हैं। इसलिए हमने कहा कि छठा हिस्सा हक के तौर पर दे दो, भिक्षा के तौर पर नहीं।

महाभारत का किस्सा है। पाण्डवों ने माँग की कि आधा राज्य हमें दो। दुर्योधन ने कहा कि नहीं देंगे। तो धर्मराज ने कहा, आधा नहीं देते तो हम पाँच भाइयों को पाँच गाँव दे दो, हम संतुष्ट हो जायेंगे। दुर्योधन ने कहा कि हक के तौर पर माँगते हो तो सूई की नोक पर जितनी जमीन रहती है उतनी भी नहीं दूँगा। भीख माँगोगे तो दे सकता हूँ और उसके लिए कितना बडा महाभारत हुआ। लोग हमें भी कह सकते हैं कि बाबाजी आश्रम के लिए माँगो तो देंगे पर हक के तौर पर देना तो मुश्किल है। लेकिन हमने तो शुरू से ही हक की माँग की है, भिक्षा की नहीं। हम भिक्षा नहीं माँगते। हम तो दीक्षा देना चाहते हैं।

छठे हिस्से के बाद ?

कभी-कभी लोग पूछते हैं कि एक बार छठा हिस्सा देने के बाद तो नहीं माँगेंगे? हम कहते हैं—धर्म-कार्य से छुटकारा

पाना होता है क्या ? उसमे तो वँधना होता है। आगे जाकर तो सब कुछ देकर गरीब की सेवा में लग जाना है। वामन के तीन पैर है। उनमें से एक यह है। वामन के तीन पैर विराट् पैर है। आखिर हमें गरीब ही बनना होगा। जीवन को सादा करना होगा।

जैसे बच्चे को उठाने के लिए माँ को झुकना पडता है, वैसे हमें भी अपने जीवन का स्तर थोडा नीचे करना होगा। इसका आरभ छठे हिस्से से हुआ है। अगर यह विचार ठीक से समझ जाओगे तो हमारा उपकार ही मानोगे।

अंगों की एकता

बडे-बडे राजा-महाराजा घूमते है, काम करते है। क्योंकि वे समझते है कि इस दुनिया में जो गरीब की सेवा करेगा वही इज्जत पावेगा। यह बात अभी सब नही समझे है, पर वह दिन जल्दी ही आवेगा जब ऊँच-नीच का भेद नही टिकेगा।

एक भाई का कान दुखता था। आँखो से आँसू बह रहे थे। मैने पूछा, क्यो भाई, क्या हुआ ? उसने कहा, कान दुखता है। मैने कहा, कान दुखता है तो आँख क्यो रोती है ? क्योंकि कान का दुख आँख महसूस करती है। सारा शरीर एकरूप होकर सेवा करता है। जैसे शरीर के अवयव होते है, वैसे ही हम समाजरूपी शरीर के अवयव है। कोई हाथ है, कोई पाँव है, कोई आँख है। एक-दूसरे का दुख एक-दूसरे को महसूस होता है, उसीका नाम समाज है। अगर पाँव की वेदना ऊपर न पहुँचे तो वह मरने की निशानी मानी जायगी।

समाजरूपी शरीर

जिस समाज मे एक के दुख का अनुभव दूसरे को होता है वह जिंदा समाज है और जिस समाज मे एक के दुख का अनुभव दूसरे को नही होता वह मुर्दा समाज है। और मुर्दा जलाने की ही लियाकत रखता है। इसलिए हमें ऐसा समाज जलाना ही होगा।

धर्म हमे समझाते है कि दूसरे के दुख से दुखी होनेवाले विरल होते हैं। हम कहते है, दूसरे के दुख से दुखी होनेवाले मानव होते है। दुख से दुखी होनेवाले विरले होते है, यह मत समझना, यह कहो कि दूसरे के दुख से दुखी होना "बडा धर्म" नही, "मानव-धर्म" है। बडा धर्म तो यह होगा कि एक-दूसरे के लिए मर मिटे। दूसरे के दुख से दुखी होना मनुष्य का लक्षण है। जिसमे यह लक्षण नही होता वह या तो जड है या जानवर की कोटि का। इस धर्म का हम प्रचार करना चाहते हैं। और भाइयो, इसलिए हमने इसे 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' नाम दिया है।

हमे यह सब करना है। पर यह काम कौन करेगा? क्या विनोबा करेगा? समाज की उन्नति समाज ही कर सकता है। इसलिए मजदूर को मजदूरी मे प्रतिष्ठा माननी चाहिए। हम चाहते है, मजदूर भी अपनी सपत्ति का एक हिस्सा दे। हम छठा नही मागते पर एक हिस्सा जरूर दे। तो मालिक को भी सोचना पडेगा कि मजदूर देते है तो हमे भी देना चाहिए। उन्हे लज्जा होगी और देना ही पडेगा। यह मै नही बोल रहा हूं। वेदो ने कहा है—

"बहुत से बडे-बडे लोग दान देते है वे लज्जा के डर से देते है।"

आत्मा की एकता

हम किसीकी बेइज्जती नही करना चाहते। हरएक की इज्जत करना चाहते है। हमे यह समझ में नही आता कि एक सोलह साल का मैट्रिक पास लडका एक चालीस साल के बूढे बढई से कैसे पूछता है कि 'तेरी मजदूरी क्या है ?' इस तरह के दर्जे हमें नही रखने है। कोई कहे, तेरी मजदूरी कितनी है, तो बढई को कहना चाहिए, आप सभ्यता नही जानते। पहले सभ्यता सीखिए तब जवाब देंगे। ऐसा कहने की हरएक मजदूर में हिम्मत आनी चाहिए।

हम किसीको दबाना नही चाहते और किसीसे दबना भी नही चाहते। बिल्ली शेर को देखकर भागती है और चूहे को देखकर हमला करती है। आज ऐसा ही हो रहा है। इधर तो हांजी-हांजी करते है और उधर डराने-धमकाने लगते है। हम किसीको डराना नही चाहते, किसीसे डरना नही चाहते। हम किसीका अपमान नही करना चाहते और किसीसे अपमानित होना नही चाहते।

हमें वेदो ने सिखाया कि हरएक में आत्मा एक होती है। यह न सिर्फ वेदांत का विचार है, बल्कि आपकी राज्यव्यवस्था ने यह बात मानी है, इसलिए हरएक को एक वोट दिया है। पडित नेहरू को भी एक वोट और उनके चपरासी को भी एक वोट। भाइयो, यह न केवल वेदांत है, बल्कि व्यवहार ने भी यह मान लिया है।

सब भाई-भाई के समान रहें, यह हम करना चाहते है। इसलिए भू-दान-यज्ञ का विचार सब समझे, यह हम चाहते है। ●

पहला प्रकरण

[श्रम-सम्बन्धी विवेचन]

विषय-प्रवेश

'श्रम-दान' एक सामासिक शब्द है। वह सब कालो मे सब समाजो के लिए अत्यन्त उपयोगी है और समाज की उन्नति का एकमात्र मुद्रा-लेख माना जायगा। यह शब्द 'श्रम' और 'दान' इन दो शब्दो से मिलकर बना है। इसलिए क्रम से श्रम, दान और श्रम-दान का स्पष्टीकरण करना होगा। पहले 'श्रम' पर ही विचार करे, कारण 'श्रम-दान' मे वही मुख्य शब्द है और जीवन का सर्वाधार भी है। हमारा पालन-पोषण और सवर्धन माता के निरन्तर श्रम से हुआ है। माता के श्रम की कोई तुलना नही है। उसका माप-तौल नही है। माता के जिस श्रम से हम बडे हुए, सचमुच हमें उसीको माता का स्थान देना चाहिए। यही नही, बल्कि हमे यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि श्रम ही जीवन की सच्ची आराध्य-देवी है।

'श्रम' शब्द का अर्थ

'श्रम' शब्द सस्कृत भाषा का है और हिन्दुस्तान की हिन्दी, मराठी आदि सब भाषाओ मे अपने मूल अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'श्रम' स्वतन्त्र क्रिया-दर्शक धातु है, जिसका अर्थ परिश्रम करना और थकना है। उसीसे 'श्रम' सज्ञा बनी है। आगे चलकर यह श्रम-शब्द शास्त्राभ्यास, तप आदि अनेक अर्थों मे प्रयुक्त

होने लगा, फिर भी उन सबमे श्रम का मौलिक भाव कभी लुप्त नही हो सका । 'श्रम' का मुख्य अर्थ शारीरिक श्रम ही है, किन्तु बौद्धिक श्रम के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यही कि किसी भी श्रम का मूल आधार शरीर-श्रम ही है। बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम के विना भी हो सकता है, पर बुद्धि को बिलकुल ही चलाये विना शारीरिक श्रम सभव नही। तब वह पागल का कार्य हो जायगा । फिर भी जितना बौद्धिक श्रम एकागी है उतना शारीरिक श्रम एकागी नही। जैसे शारीरिक श्रम के लिए बौद्धिक श्रम अनिवार्य है वैसे ही एकागी बौद्धिक श्रम के साथ भी शारीरिक श्रम का योग अवश्य होना चाहिए। यह योग दण्ड-बैठक का व्यायाम नही, वरन् उत्पादक शरीर-श्रम ही है। कारण शरीर और बुद्धि को चलाने के लिए उत्पादक श्रम अत्यन्त आवश्यक है ।

ससार में श्रम का महत्त्व

सृष्टि मे यह योजना ही नही है कि न्यायत विना श्रम के किसीको कुछ मिले । शिकार करनेवाले हिंस्र पशुओ को सोते-सोते कभी शिकार नही मिलता । उसके लिए उन्हे अपनी सारी शक्ति बटोरकर श्रम करना ही पडता है । जो हिंस्र नही है, उन जानवरो को भी भागने, चरने या इधर-उधर घूमने के लिए श्रम करना ही पडता है। शहद की मक्खियाँ ५-५ मील घूम-घूमकर शहद लाने और 'छत्ता' बनाने के लिए अविश्रात श्रम करती ही रहती है। पक्षी चारे के लिए सूर्योदय से सूर्यास्त तक लगातार इधर से उधर उडते ही रहते है। चीटियो के दीर्घ

उद्योग से धान्य के भण्डार-से, श्रम के मूर्तिमन्त स्मारकरूप वल्मीक के वल्मीक (वावी) तैयार हो जाते है। इस तरह हम देखते है कि ससार मे प्राणिमात्र को अखण्ड श्रम करना पडता है।

न केवल प्राणी ही, वल्कि हमारी यह पृथ्वी और नौ ग्रह भी लगातार घूमने का श्रम करते रहते है। उनका प्रकाश, उष्णता और गति निरन्तर जारी रहती है।

'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।'

—गीता, ४।१

अर्थात् योग अविनाशी है, यह मैने सूर्य से कहा—भगवान् का यह वाक्य सूर्य के निरन्तर दर्शन से उसके श्रमयोग यानी कर्मयोग का प्रमाण उपस्थित करने मे वहुत वडा सहायक होता है। यही कारण है कि कर्मयोगी भक्त इन्ही उदाहरणो के आधार पर भगवान् से यही प्रार्थना करते है·

'नदीला कधीं विश्राम नाहीं
वायु ही नभीं सदैव वाहो।
सूर्याला नाहीं विश्रांती ठावी
देवा! मत्सेवा तैशीच व्हावी॥'

अर्थात् नदी को कभी विश्राम नही, वायु भी आकाश मे सदा वहती ही रहती है, सूर्यदेव को भी विश्राम का नाम तक मालूम नही—भगवन्! मेरी सेवा भी वैसी ही रहे।

इतना ही नही, स्वयं भगवान् भी कर्म मे अखंड खपते है।

'यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥'

—गीता,

अर्थात् 'यदि मैं आलस्य त्यागकर कर्म करने में प्रवृत्त न हो
सभी लोग मेरे ही जैसा आचरण करने लगेंगे।' गीता का यह
कर्मयोग या श्रम-दान के लिए लोगों का बहुत बड़ा मार्गदर्शक

'स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।'

—तै० ब० २, अनु

हमारी ये उपनिषदें बताती हैं कि श्वर ने भी तप या श्रम कर
ही यह सारी सृष्टि रची।

विश्राम भी श्रम

किन्तु 'बाइबिल' में ऐसी भी ए निर्भर
ने लगातार ६ दिनों तक श्रम क था मिलती है कि ईश्वर
सृष्टि रची और सातवें दिन वि आकाश, पृथ्वी आदि सारी
चै० १, २)। ईश्वर के वि श्राम लिया (बाइबल, जेनिसिस
है। श्रम करनेवाले के
में श्रम के कारण हि विश्राम की इस कथा का भी एक मर्म
करते, उनके सके लिए विश्राम जरूरी है। आखिर सृष्टि
अर्थ शान्ति औ ही तो विश्राम में भी मजा है। जो श्रम नहीं
आरोग्य के लिए विश्राम भी नहीं। और विश्राम न होने का
अखंड युगल र स्वास्थ्य का भी न होना है। अतः आहार और
'श्रम-विश्राम श्रम और विश्राम को दिन और रात के रूप में
किन्तु यदि बना दी गयी है। जीवन का ही दूसरा नाम

विश्राम पाने की युक्ति है। उसके लिए श्रम से पूर्णत मुक्ति जरूरी नही। इनमे पहली युक्ति यह है कि एक श्रम से जो ऊब जाय तो दूसरे श्रम मे लगे तो वह श्रम दूर हो जाता है। दूसरी युक्ति यह है कि कोई भी श्रम अत्यधिक लगन से किया जाय तो वह श्रम ही प्रतीत नही होता। जैसे माता की वालक-सेवा। एक तीसरी भी युक्ति है—श्रम मे एकाग्रता आने पर वही विश्राम मे वदलने लगता है। जैसे-अनुसन्धानकर्ताओ का अनुसन्धान या खोजवीन। जिस श्रम की आदत न हो, वह पहले तो कठिन ही मालूम पडेगा, पर अभ्यास हो जाने पर वही विश्राम बन जाता है। जैसे—तैरना। इस तरह अभ्यास से श्रम का श्रमत्व ही मिटा देना एक चौथी भी युक्ति है। ऐसी अनेक युक्तियाँ मिलकर योग वनता है। 'कर्म अकर्म कैसे वन जाता है' इसका स्पष्टीकरण करते हुए पूज्य विनोवाजी ने 'गीता-प्रवचन' मे यह विषय अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। साराश, श्रम मे योग को मिलाकर श्रम का विश्राम वनाया जा सकता है। जहाँ दिन में विश्राम का साधन श्रम है वही रात मे श्रम का सावन विश्राम है।

यदि श्रम न किया जाय तो श्रम में विश्रान्ति और विश्राम मे श्रम-स्फूर्ति मिल नही सकती। यही क्यो, विना श्रम के अन्न भी ठीक नही पचता। श्रम से अन्न मे जो रुचि मालूम पड़ती है, वह किसी पकवान से पैदा नही की जा सकती। श्रम से न केवल जीभ, वरन् सभी इन्द्रियाँ सतेज वन जाती है। श्रम का देह और बुद्धि पर सर्वोत्तम प्रभाव दीख पडता है। जैसे किसी तलवार को सान देकर चमचमाने या किसी वस्त्र को नदी के स्वच्छ जल मे खूब धोने पर उनमें तीक्ष्णता, स्वच्छता और प्रसन्नता पैदा होती

है वैसे ही श्रम से भी बुद्धि में तीक्ष्णता, स्वच्छता और प्रसन्नता आती है। श्रम से भीतर-बाहर शुद्धि होती है।

श्रमयुक्त कृषि और ग्रामोद्योगयुक्त वर्ण-व्यवस्था

यही कारण है कि हमारे प्राचीन ऋषियो के निवासस्थान का नाम 'आश्रम' रखा गया। जहाँ एक विशिष्ट दृष्टि रखकर श्रम किया जाता है, तपस्या का वह स्थान ही आश्रम है। वेद में एक वाक्य आया है—

'अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व।'

—ऋग्वेद, १०।३४

अर्थात् मुझे सम्माननीय सवितृदेव ने आदेश दिया है कि 'पासो से जुआ मत खेलो, खेती करो।' ध्यान देने की बात है कि जुआ सरासर जुआ है ही, पर श्रमप्रधान कृषि और ग्रामोद्योग को छोड इधर के पैसे को उधर लगाने का अनुत्पादक रोजगार भी एक जुआ ही है। इसीलिए ऋषियो का सदा इसी पर जोर रहा कि 'कृषि को ही अपना मुख्य उद्योग बनाओ।'

इस तरह कृषि-जीवन मुख्य माना गया। उस कृषि और समाज के लिए आवश्यक ग्रामोद्योग यानी गोरक्षा, वाणिज्य आदि उद्योगो को भी मान्यता दे चातुर्वर्ण्य की रचना की गयी। निश्चित किया गया कि सभी वर्ण श्रमप्रधान कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि उद्योग करे—सभी वर्ण श्रम के आधार पर जीवन-निर्वाह करे। किन्तु जिनके पास अधिक ज्ञान हो वे दूसरो को उसे बिना मूल्य दें। ये ज्ञान देनेवाले ही ब्राह्मण हुए। इसी तरह जहाँ साहस, सुरक्षा आदि का प्रसग उपस्थित हो वहाँ क्षत्रिय बिना

मूल्य आगे बढे। सक्रामक रोग महामारी, अकाल, बाढ आदि सकटो के समय जब विशेष सेवा की जरूरत पडे तब केवल सेवा की स्फूर्ति रखनेवाले शूद्र बिना मूल्य लिये सेवा के निमित्त आगे आये।

चातुर्वर्ण्य की यह रचना वैदिक धर्म के सारस्वरूप गीता की चातुर्वर्ण्य रचना श्रम और गुण के सिद्धान्त पर ही निर्धारित हुई। (गीता, ४-१३, १८-४१ से ४४)। यदि ब्रह्मकर्म, क्षात्रकर्म और शूद्रकर्म के साथ कृषि, गोरक्षा, वाणिज्यादि उद्योग न जोडे जायँ तो वे केवल कर्मशून्य गुण रह जायंगे। अर्थात् ऐसे निराधार गुण गुण ही नही रह जायंगे। इसलिए जीवन के लिए श्रम के कार्य वे विशिष्ट गुण मिलकर ब्राह्मणादि त्रैवर्णिको के कर्म सिद्ध होते है और गुण भी सिद्ध होते है। यही कारण है कि शरीर-श्रम से रहित केवल बौद्धिक ज्ञान, केवल राजकीय कार्य या केवल सार्वजनिक सेवा की विषमता गीता के चातुर्वर्ण्य मे कही नही है।

शारीरिक श्रम से बचना समाजद्रोह

आजकल श्रम त्यागकर शिक्षण आदि कार्य किये जाते है। इन्हे श्रम करनेवालो से कई गुना अधिक वेतन मिलता है। जो प्रतिष्ठा मिलती है, वह अलग। इस दृष्टि से देखा जाय तो हजारो रुपये कमानेवाले प्रोफेसर या सरकारी नौकर श्रम के आधार पर निर्मित समाज के द्रोही ही कहे जायेगे। राजकीय कार्य करनेवाले भी श्रम से बचते रहते है। इतना ही क्यो, वे विशेष सत्ता, मान-सम्मान और शरीरश्रम करनेवालो की अपेक्षा कही अधिक वेतन भी पाते है। सार्वजनिक सेवा करनेवाले शूद्र उस कर्म की शेखी

बघारते रहते है। वे भी मान-सम्मान के पीछे लगते और अधिकार तथा पैसे की आकाक्षा करते है। सक्षेप मे आज के चातुर्वर्ण्य का यही नक्शा है। उसमें शरीर-श्रम अर्थात् उत्पादक परिश्रम से बचने की कोशिश है। वह समाज में भेद और विषमता पैदा करता है और केवल स्वार्थ पर खडा है।

चातुर्वर्ण्य की सच्ची बुनियाद शरीर-श्रम है और उसकी इमारत गुणो के सहारे खडी की गयी है। बिना बुनियाद की इमारत की तरह श्रमविहीन चातुर्वर्ण्य भी भारी खतरे की चीज है। उसमें श्रम तो नष्ट होता ही है, कोई गुण भी सच्चे गुणरूप में बच नही पाता। जहाँ श्रम गया, वहाँ विषमता स्वभावत आ जाती है। सिवा इसके श्रम-प्रतिष्ठा नष्ट हो जाने के कारण विवशता या लाचारी से श्रम करने की वृत्ति पैदा हो जाती है, जिससे श्रम करनेवाले भी किसी तरह, बडे ही निरुत्साह से श्रम करते रहते है। अत स्पष्ट है कि शारीरिक श्रमविहीन कोई भी वर्ण कभी और किसी भी प्रकार उपयोगी नही कहा जा सकता।

बौद्धिक श्रम के साथ उत्पादक श्रम जरूरी

इस पर कई लोग प्रश्न करते है कि 'क्या बौद्धिक श्रम श्रम नही है?' इसका उत्तर यही है कि हाँ, बौद्धिक श्रम भी श्रम ही है, पर उसका बदला भी बौद्धिक ही होना चाहिए। जैसे हमने किसी को कोई नया विचार दिया या बतलाया तो उसके बदले में हम उससे दूसरे विचार की तो इच्छा रख सकते है, परन्तु विचार के बदले में पैसा या अन्य वस्तु की अपेक्षा रखना उचित नही होगा। इसलिए बौद्धिक श्रम करनेवालो को इतने अधिक रुपयो के रूप में

मुआवजा देना, जिससे वे हजारो वस्तुओ का सग्रह कर सके, सर्वथा अनुचित माना जायगा।

वस्तुत बौद्धिक श्रम करनेवालो को थोड़ा-बहुत उत्पादक श्रम अवश्य करना चाहिए। इससे उनका और उनके समाज का लाभ ही होगा। उनका वेतन भी अधिक न होना चाहिए। सच तो यह है कि शरीर के लिए आवश्यक वस्तुएँ शरीर द्वारा ही प्राप्त करना सृष्टि-नियम के अनुकूल है। कान को नाद की आवश्यकता होती है, पर उसे आँखो द्वारा पाने की इस सृष्टि मे कही व्यवस्था नही है। शरीर के लिए जो आवश्यक हो वह शरीर द्वारा और बुद्धि के लिए जो आवश्यक हो वह बुद्धि द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। इसीलिए ऋषियो के आश्रमो की तरह पूज्य बापूजी के 'सत्याग्रह-आश्रम' के सिद्धान्तो मे भी शरीर-श्रम को महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया और वही चातुर्वर्ण्य का मूल तत्त्व है।

यह ऐतिहासिक प्रश्न कि 'क्या यह गीतोक्त चातुर्वर्ण्य समाज मे कभी प्रचलित भी था' यहाँ कोई महत्त्व नही रखता। यदि मान भी लिया जाय कि वह कभी प्रचलित न था, तो भी चूँकि चातुर्वर्ण्य की यह कल्पना गीता को मान्य है, इसलिए वह एक आदर्श के रूप मे तो अवश्य था। गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण का जीवन बाल्यावस्था से ही चातुर्वर्ण्य की नीव—शारीरिक श्रम—पर आधारित रहा। यही कारण है कि गीतोक्त कर्मयोग के निरूपण को एक विशेष प्रेरणाशक्ति प्राप्त हो गयी है और इसी-लिए तो गोकुल का श्रमप्रधान ग्राम्य जीवन, राजसूय यज्ञ में जूठन उठाने का काम आदि श्रीकृष्ण की जीवन-लीलाएँ अखिल भारत में भक्ति का विषय बन गयी है।

चातुर्वर्ण्य की विकसित कल्पना

चातुर्वर्ण्य की कल्पना ही नही, अन्य दूसरी कल्पनाएँ क्रमश. उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है। श्रम पर आधारित और श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीतोक्त चातुर्वर्ण्य भी इसी प्रकार का विकसित चातुर्वर्ण्य है। उच्च-नीच भाव का चातुर्वर्ण्य इतिहास में नही मिलता—ऐसी बात नही पर वह है अविकसित कल्पना ही। वास्तव में 'वैश्य' वर्ण उत्पादक श्रम की विशेषता से पहचाना जाना चाहिए और ब्राह्मणादि वर्ण उत्पादक श्रम + उन-उन गुणो के वैशिष्ट्य से पहचाने जाँय। ये वर्ण कभी भी जन्म पर निर्भर न रहें। ब्राह्मण या शूद्र पहचानना हो तो उस-उस अवसर या गुण-प्रकर्ष से ही पहचाना जाय। यही चातुर्वर्ण्य की सच्ची विकसित कल्पना है। यह भी सच है कि इसमें किसी प्रकार की विषमता नही आती। इसलिए जहाँ एक ही व्यक्ति मे चातुर्वर्ण्य एकत्र हो गया है उस समाज मे अधिक से अधिक ऐसे व्यक्ति पैदा होते जायँ—यही इस विकसित चातुर्वर्ण्य का ध्येय है। समस्त चातुर्वर्ण्य का अधिक-से-अधिक व्यक्तियो में एकत्रीकरण ही महत्त्व की बात है।

बापू और विनोबा : आदर्श उदाहरण

एक ही व्यक्ति मे चातुर्वर्ण्य के अत्युत्कट एकत्रीकरण का अत्युत्तम उदाहरण सारे विश्व के सामने पूज्य बापूजी का है। वे अखण्ड श्रम करते थे। पाखानो की सफाई बुनाई, खेती मोची का काम, गो-सेवा, छापाखाने का काम, महारोगी की सेवा—इस तरह उन्होंने अपार श्रम किया। इसके सिवा शिक्षा

का काम भी उन्होंने किया। राजकारण और सत्याग्रह जैसे क्षात्र-कर्म भी उन्होंने अद्भुत रूप मे कर दिखाये। यही कारण है कि वे नवयुग के स्मृतिकार माने गये।

केवल बापूजी ही इसके उदाहरण है, ऐसी बात नही। सौभाग्य मे ऐसे अनेक व्यक्ति आज इसके उदाहरण-स्वरूप मिल सकते है, जिनमें पूज्य विनोबाजी का उदाहरण सबके सम्मुख है। उन्होंने आश्रम मे महीनो तक प्रतिदिन ६४० तारो की ४ गुडियाँ यानी १६-१६ लडियाँ कातीं। कातते समय वे पढाते भी रहे। दाहिना हाथ थक जाने पर वे बाँये हाथ से कातते। सुरगाँव मे उन्होंने भगी का काम किया और परंधाम-आश्रम मे घण्टो खुदाई करते रहे। वे कुँआ खोदने का भी काम करते। उनमे चातुर्वर्ण्य का एकत्रीकरण साफ-साफ दीख पडता है।

किन्तु इन प्रमुख कतिपय उदाहरणो को छोड दे तो भी सभी मे एक अपेक्षित परिमाण मे चातुर्वर्ण्य एकत्र होना आज अत्यावश्यक है। कम-से-कम उसकी बुनियाद के रूप मे सभी को उत्पादक श्रम मे लीन हो जाना चाहिए। तन्मयता से श्रम करना कोई अनोखी बात नहीं है। छोटे बच्चे भी तो तन्मय होकर खेलते ही हैं। एक और उदाहरण लीजिये—आश्रम में एक निरक्षर बढई रहा। वह वहाँ चरखा बनाने का काम करता था। केवल भोजन करने भर का समय छोड, क्षण भर विश्राम किये बगैर, वह सदा ही तन्मयता के साथ अखण्ड काम में जुटा रहता। एक बार उसने पूज्य विनोबाजी को भोजन के लिए बुलाया। विनोबाजी कहीं भोजन करने जाते नहीं, पर उसके यहाँ चले गये।

भला उस तन्मय अखण्ड श्रम की उसकी 'भाकरी' (ज्वार की रोटी) की लज्जत किस पकवान मे आ सकती थी ?

श्रमपरक ही आश्रम-व्यवस्था

जैसे श्रम चातुर्वर्ण्य या सामाजिक जीवन की बुनियाद है वैसे ही वह व्यक्ति-जीवन की भी बुनियाद माना गया है। ऋषियो ने श्रम के आधार पर ही सम्पूर्ण मानव-जीवन की रचना की है। ब्रह्मचर्याश्रम मे ब्रह्मचर्य मुख्य मानकर उसके लिए परिश्रम, गृहस्थाश्रम मे गृह मुख्य मानकर उसके लिए परिश्रम, वानप्रस्थ आश्रम मे वन को मुख्य मानकर उसके लिए परिश्रम और सन्यासाश्रम मे त्याग को मुख्य मानकर उसके लिए श्रम का विधान किया गया। इस तरह ऋषियो ने जीवन की चार प्रमुख अवस्थाओ के अनुसार चार आश्रमो की रचना की। उन सबमें श्रम सर्वसाधारण तत्त्व है। उसमे भी उत्पादक शरीर-श्रम का बहुत बडा स्थान है।

इस पर भी यह ऐतिहासिक प्रश्न खडा हो सकता है कि 'क्या वर्ण-रचना के समान चार आश्रमो की रचना भी कभी प्रचलित रही ?' किन्तु इसे भी गौण प्रश्न ही मानना होगा। कारण, आश्रम-रचना की कल्पना उपनिषद्-काल से ही दिखाई पडती है। महाभारत, रामायण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थो में इन चार आश्रमो के बारे मे काफी चर्चा है। फिर भी यदि मान ले कि पहले कभी आश्रम-कल्पना प्रचलित न थी तो भी इतना तो निश्चित ही है कि वह मानव-जीवन के लिए एक अत्यावश्यक शास्त्रीय कल्पना है और अनेक लोगो

ने उसका आचरण किया है। इसमे किसी तरह के सन्देह की गुजाइश नही।

किन्तु आज समाज से इस आश्रम-कल्पना का पूर्णत. लोप हो गया है। शंकराचार्य के समय सन्यास कलिवर्ज्य घोषित हो चुका था, किन्तु लोकोद्धार के अनेक कार्यो मे एक महत्त्व का कार्य उन्होने यह भी किया कि सन्यास की कलिवर्ज्यता मिटा दी। यदि समाज मे श्रम की महिमा और लोक-सेवा की भावना बढानी हो तो न केवल सन्यास, वरन् चारो आश्रमो को पुन जीवित करना होगा। आज तो केवल गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा आश्रम बचा है, जिसकी दीक्षा लोगो के सामने दी जाती है। किन्तु ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास से रहित केवल गृहस्थाश्रम कदापि 'आश्रम' सज्ञा का पात्र नही, क्योकि उसमे केवल अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण और उपभोग के अतिरिक्त कोई दृष्टि है ही नही।

आज किसीको भी अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के निमित्त चाहे जैसे उपाय करने मे किसी तरह की आपत्ति मालूम नही पडती। इसलिए वहाँ समुचित उत्पादक श्रम का प्रश्न ही नही उठता। आज के गृहस्थो की यह वृत्ति-सी बन गयी है कि 'कुछ भी करके पैसा पैदा कर लिया तो सब कुछ पा लिया।' वास्तव मे यह समाज-धारणा और नीति की दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय बात है।

धन से श्रम का मूल्य अधिक

वस्तुत देखा जाय तो द्रव्य या पैसा व्यवहार के एक गौण साधन के ही रूप मे अपनाया गया। किन्तु जिस तरह किसी राजा की मदद के लिए आया हुआ कोई मन्त्री राजा को हटाकर स्वय ही मुख्य वन वैठता है, आज पैसे के बारे मे भी ठीक इसी तरह की वात हो गयी है। वह आया तो दूसरे मददगार के रूप में, पर वाद में श्रम से तैयार होनेवाली वस्तुओ को पीछे छोडकर स्वय ही मुख्य वन वैठा है। पर ध्यान रहे कि जैसे राजा को पदच्युत कर उसकी जगह प्रजा की प्रतिष्ठा किये वगैर लोकतन्त्र व्यवस्थित नही होता, वैसे ही पैसे को पदच्युत कर उसकी जगह श्रम की प्रतिष्ठा किये वगैर गृहस्थ-जीवन और समाज-जीवन कभी व्यवस्थित नही होगा।

शकराचार्य उपदेश देते है कि 'मूढ ! धन की तृष्णा त्याग दे'—

'मूढ जहीहि धनागमतृष्णाम्।'

उनका यह उपदेश सभी पर समान रूप से लागू होता है। आखिर वे ऐसा क्यों कहते है? कारण स्पष्ट है। उसमे वास्तविक अर्थ न होकर अनर्थ ही भरा हुआ है।

'अर्थमनर्थं , भावय नित्य
नास्ति तत सुखलेश सत्यम्।'

अर्थात् 'तुम अर्थ को अनर्थ समझ लो, वास्तव में उसमें सुख का लेशमात्र भी नही है'—यह भी उन्ही का वचन है। सोचने की वात है कि आखिर यह अर्थ अनर्थ क्यो है? कारण, वह एक

धोखाधडी है। बाजार मे एक सेर अनाज के लिए चार आना खर्च पडता है। पर चार आने और एक सेर अनाज की वास्तव मे तुलना ही क्या ? सचमुच यह अर्थ का अनर्थ ही तो हुआ। यदि कोई पत्थर और मानव की तुलना करने लगे तो हम उसे क्या कहेंगे ? जब एक चेतन और दूसरा अचेतन, एक सचर और दूसरा अचर, एक अनेक का प्रेरक और दूसरा अल्प उपयोगी हो तो उन दोनो की परस्पर तुलना ही क्या ? तुलना के लिए कुछ समानता तो होनी ही चाहिए। जहाँ समानता नही, वहाँ तुलना मे खडी की गयी वस्तु साफ-साफ अनर्थ ही तो है। आश्चर्य है कि फिर भी उसे 'अर्थ' नाम दिया गया। पर निश्चय ही वह व्यर्थ है।

आखिर एक सेर ज्वार क्या है ? उसके पीछे कितना श्रम है ? जमीन की देखभाल, जोतना, खाद देना, अच्छे बीज चुनना, उन्हे बोना, सीचना, निरौना, रोपना, पक्षियो से बचाना, अगोरना, बाल काटना, दंवाना, उसावना—आदि कितनी बड़ी श्रम-परम्परा उस एक सेर ज्वार के पीछे खड़ी है। और यदि वही एक सेर ज्वार बो दी जाय तो पुन कितनी गुना बनकर मिलेगी ? उसके लिए चवन्नी की ठीकरी का मूल्य ही क्या ? तब क्या चवन्नी की ठीकरी और एक सेर अनाज समान ही माना जायगा ?

> 'सामर्थ्यानामिव समुदय सञ्चयो वा गुणानाम्
> आविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशि ।'

अर्थात् धान्यराशि (अनाज का ढेर) मानो जगत् के पुण्य की राशि है। वह सामर्थ्य का उदय है, वह गुणो का सचय है। इस

नरह स्पष्ट है कि पैसा और अनाज आदि वस्तुओ की तुलना कभी हो ही नही सकती । कारण अनाज आदि वस्तुओ के पीछे चेतन मानव का वुद्धियुक्त श्रम है । जूता पैर मे ही रहना चाहिए । ठीक इसी तरह पैसे का उपयोग गौणरूप मे ही होना चाहिए, उसे सिर चढाना ठीक नही । पैसे की जगह श्रम-प्रतिनिधि वस्तुओ की ही प्रतिष्ठा की जानी चाहिए ।

श्रमयुक्त वस्तु के विनिमय का चलन हो

आजकल पैसे की वदौलत अनावश्यक वस्तुए खरीदने की प्रवृत्ति तेजी से वढ रही है। पर पैसा एकदम चुराया भी जा सकता, है जव कि श्रम-युक्त वस्तु-विनिमय में यह भय करीव-करीव समाप्त हो जाता है । अत जिसके पास पैसे से वढकर श्रमशक्ति भरपूर है, वास्तव मे वही श्रीमान् माना जाना चाहिए। पैसा श्री नही, वरन् लक्ष्मी ही श्री है और वह एकमात्र श्रम से ही प्राप्त होती है । अवश्य ही आजकल वही श्रीमान् माना जाता है जिसके पास पैसा हो, कारण पैसा देने पर चाहे जो मिल सकता है। पर यह स्थिति अवश्य वदलनी होगी। लोगो को यह सकेत कायम करना होगा कि कुछ खास चीजो—जैसे घडी, साइकिल, रेलगाडी का टिकट आदि—के लिए ही पैसे का प्रयोग उचित है। यदि यह स्थिति आ जाय तो निश्चय ही पैसे का मूल्य वहुत कुछ गिर जायगा। भले ही पैसे का पूर्णत निर्मूलन न किया जाय, फिर भी उसकी सार्वभौम प्रतिष्ठा तो समाप्त करनी ही पडेगी। इसके विना श्रम को महत्त्व मिल ही नही सकता ।

गाँवो मे मुख्यत जीवनोपयोगी वस्तुएँ ही बनती है। ग्रामीण उनमे पैसे भुनाने शहरो मे जाते है। शहरवाले जो भाव नियत कर दे, उन्हे उसी भाव पर अपनी वस्तुएँ बेचनी पडती है। यदि ऐसी स्थिति पैदा हो जाय कि गाँववालो को पैसे की जरूरत ही न पडे तो निश्चय ही वे गाँव का बना माल शहर मे बेचने न जायँगे। उल्टे, शहरवालो को ही अनाज आदि खरीदने गाँव जाना पडेगा। गाँव मे उसका जो मूल्य निर्धारित होगा उसीके अनुसार उनकी खरीद होगी। साराश, अपनी वस्तु बेचकर पैसा भुनाने की प्रवृत्ति जहाँ तक सम्भव हो, अगर निर्मूल होती जायगी तो श्रम के वास्तविक प्रतीक जीवनोपयोगी वस्तु की प्रतिष्ठा बढेगी।

'काञ्चनमुक्ति'-प्रयोग

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो सरकारी कर या मालगुजारी भी अनाज या सूत के रूप मे लेना असभव नही। सरकार इस चलन का प्रयोग करे तो कहा जायगा कि उसने सच्चे चलन की कद्र की। इस वास्तविक चलन से अर्थशास्त्र के बहुत से अनर्थ भी दूर हो जायेंगे। आज एक रुपये मे जितना अनाज मिलता है, उतना हमेशा नही मिलता। उसमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। किन्तु अनाज या अन्य वस्तुओ की बात ऐसी नही है। एक सेर अनाज सदा एक सेर ही रहेगा। उसमे केवल पुष्ट-अपुष्ट, अच्छे-बुरे का ही अन्तर पड सकता है। साराश, वस्तु की तुलना मे पैसा प्रामाणिक (ईमानदार) चलन नही। अत: श्रम-प्रतिष्ठा के लिए प्रामाणिक चलन की सर्वत्र समान रूप से जरूरत है।

पैसा और अप्रामाणिक वस्तुओ का यथासभव कम-से-कम उपयोग कर श्रम और श्रम-अर्जित वस्तुओ का मूल्य बढाने की दृष्टि से ही पूज्य विनोवाजी द्वारा परधाम-आश्रम में चलाया गया 'काञ्चन-मुक्ति'-प्रयोग वडे मार्के का रहा। साराश, श्रम-प्रतिष्ठा की दृष्टि से पैसे का मूल्य गिराकर जीवनोपयोगी वस्तुओका मूल्य वढाना अत्यावश्यक है।

श्रम-प्रतिष्ठा के लिए भूमि सब की हो

इसके लिए गृह-उद्योग और ग्राम-उद्योग को थोडा भी गाँव से वाहर जाने देना ठीक न होगा। आज गाँव का मुख्य उद्योग—खेती—भी ठीक तरह से नही होती। उसमें उचित और जरूरी श्रम नही किया जाता। वास्तव मे जिन्हे खेती की जरूरत है, उन हजारो-लाखो के पास अपने खेत नही है। फल-स्वरूप वे केवल खेत-मजदूरी या और कुछ करते रहते है। इसी-लिए लगन और अपनत्व के साथ जमीन पर श्रम नही हो पाता। अत यह अत्यावश्यक है कि पैसे या सत्ता के वल पर जमीन का सग्रह करना अनुचित माना जाय। यह वात भूदान-यज्ञ से विश्वविश्रुत हो चुकी है। यदि इस देश मे श्रम-प्रतिष्ठा की स्थापना कर समस्त श्रमशक्ति का सदुपयोग करना हो, तो सभी को यह मान्य कर लेना चाहिए कि 'जो जोते, जमीन उसीकी।' विना इसके ठीक-ठीक खेती का श्रम हो ही नही सकता। साराश, जमीन सवकी हो जाय और सभी उसकी श्रमपूर्वक सेवा करे। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि 'खेतीयोग्य परिश्रम की दृष्टि से कोई भी भूमिहीन न रहे' इतने भर से काम न चलेगा। कारण,

भूमि-हीन के पास खेती के साधन भी तो नही होगे। अत श्रम के लिए साधन-हीनो को बैल, हल, औजार एव अन्य वस्तुए सुलभ करा देनी पडेगी।

गाँवों में पक्के माल का भी श्रम

खेती के श्रम के साथ ही गाँव के सभी लोगो को वर्ष भर काम देना हो और श्रम के बल पर ही गाँव की सभी आवश्यकताए पूरी करनी हो तो गाँव मे उत्पन्न कच्चे माल से वही पक्का माल भी बनाना होगा। यदि कच्चे माल से पक्का माल बनाने का श्रम गाँव मे बाहर चला जाय तो भी गाँव टिक नही सकता। गाँव मे रुई पैदा हो तो उसकी सफाई, धुनाई, सूत-कताई और बुनाई का सारा श्रम भी गाँव में ही हो। गन्ना पैदा हो तो उससे गाँव मे ही गुड बनाया जाय। तिलहन पैदा हो तो गाँव में ही उससे तेल पेरा जाय। धान हुआ तो उसकी कुटाई भी गाँव मे ही हो। गाँव का अन्न घर की चक्की पर पीसा जाय। गाँव में ही दूध से घी बनाया जाय। मरे जानवरो की चमडी पकाकर उससे जूते और उनकी हड्डियाँ पीटकर खाद भी गाँव में ही बने। कपड़े सीने का श्रम भी गाँव से बाहर चलना ठीक नही। गाँव में औषधि भी बनायी जाय। खपरैल, ईंट, मटके और मिट्टी का उद्योग भी गाँव मे ही हो। साराश, दैनिक जीवन के लिए आवश्यक जितने भी उद्योग हों, सब-के-सब गाँवो मे ही किये जाय। गाँव का सारा कच्चा माल गाँव मे ही पक्का बनकर निकलना चाहिए। तभी गाँव सुखी, स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो सकेगा।

जिस तरह अधिकतर सभी जीवनोपयोगी वस्तुओ का श्रम

गाँव में होना जरूरी है, उसी तरह गाँव के सभी श्रमो को समान प्रतिष्ठा भी देनी आवश्यक है। पर आज यह कही नही दीखता, फलस्वरूप गाँव के महत्त्व के श्रमो का ह्रास होता जा रहा है। चमार का व्यवसाय और भगी का काम नीच माना जाता है। उनकी पूरी-की-पूरी जातियाँ अस्पृश्य समझी जाती है। किन्तु श्रम-प्रतिष्ठा और मानवता की दृष्टि से यह घोर अन्याय है। इसलिए 'सभी मनुष्य और सभी उद्योग समान है' यह सिद्धान्त आचरण में उतारना पडेगा। इतना ही नही, नीच माने जाने-वाले भगी जैसे काम सभी द्वारा करने की प्रथा जारी कर देनी होगी।

श्रम में स्त्री-पुरुष भेद नहीं

श्रमनिष्ठा मे बाधक एक बात और है वह यह है कि कतिपय श्रम केवल स्त्रियाँ ही करे। खाली बैठे रहने पर भी पुरुष स्त्रियो के वे काम कभी न करेगा। बीमार होने पर भी उस बेचारी को किसी तरह वह श्रम करना ही पडेगा। सभी समाजो मे यह एक प्रथा-सी बन गयी है। पर यह अत्यन्त घातक है। समाज में से यह भावना या मान्यता सर्वथा नष्ट होनी चाहिए कि 'पीसना-पछोरना या रसोई बनाना एकमात्र स्त्रियो का काम है, और यदि पुरुष उन कामो में लग जाय तो मानो स्त्री बन गया और उसके लिए यह हीनता की बात होगी।' वास्तव में कोई पुरुष हरगिज इन कामो को हीन न समझे। हरएक पुरुष यह काम करना जाने तथा इनमें भी सदा भाग लेता रहे। कई जगह सूत कातना भी स्त्रियो का ही काम माना जाता है। सचमुच पुरुषो का स्त्रियो के

काम करने में अपनी तौहीन समझना मातृत्व-शक्ति का अक्षम्य अपराध है।

इतना ही क्यो, स्त्रियो को मजदूरी भी पुरुषो से कम दी जाती है। यह सच है कि स्त्रियाँ मेहनत का काम पुरुषो जितना नही कर पाती, फिर भी लगातार मजदूरी में जुटकर आस्थापूर्वक काम करने में पुरुष उनसे पिछड ही जाते है। इस दृष्टि से स्त्रियो को कम मजदूरी देने और उनके श्रम को कम मानने की विषमता भी अक्षम्य है। वह सर्वथा नष्ट होनी चाहिए। अधिक क्या, इस बारे में अब तक उनके साथ हुए अन्याय एव उनकी श्रमसम्बन्धी अटूट आस्था पर ध्यान देते हुए स्त्रियो को पुरुषो से कुछ अधिक मजदूरी देना भी अनुचित न होगा।

यन्त्रों के प्रयोग में विवेक

श्रम-निष्ठा में कमी और देश के महत्त्वपूर्ण उद्योगो के नष्ट होने का एक और बडा कारण भौतिक शोधो से आविष्कृत यन्त्रो का अविवेकपूर्ण उपयोग भी है। कपडे की बुनाई, चावल की कुटाई, बिनौले की चुनाई, तिलहन की पेराई, आटा पिसाई आदि उद्योग यन्त्र द्वारा ही करने की प्रथा-सी चल पडने के कारण देश में आज हजारो व्यक्ति बेकार हो गये है। यदि यन्त्रो से मानव बेकार और पराधीन बनता हो तो वे उसका श्रम बचानेवाले या पोषक न होकर स्पष्टत मानव-शोषक ही माने जायगे, इसमे लेशमात्र भी शंका नही है।

आम तौर पर ये यन्त्र तीन तरह के होते है (१) गत्युत्पादक, (२) अत्युत्पादक और (३) विनाशक। रेल, मोटर,

जहाज आदि सचार-साधन या टेलीफोन, रेडियो आदि यन्त्र किसी तरह का उत्पादन नही करते। वे केवल इधर से उधर जाने-आने में उपयोगी है। यात्रा मे विशेष गतिमात्र पैदा करते है। ये गत्युत्पादक साधन देश के लिए आवश्यक है। फिर भी ध्यान रहे कि कही इनके कारण भी मानव कमजोर न हो जाय। इसीलिए उठते-बैठते इनका भी उपयोग ठीक नही। यहाँ यह विवेक करना होगा कि पास ही में आना-जाना हो तो पैदल चलें, और आस-पास के गाँवो से यातायात करना हो तो बैलगाडी का ही उपयोग करें।

इसी तरह अत्युत्पादक यन्त्रो के बारे मे भी यह विवेक रखना होगा कि यन्त्रो से पक्के माल का अधिक उत्पादन तो हुआ, लेकिन लोग बेकार हो जायँ तो वह हमारे किसी काम का नही। इसके सिवा अत्युत्पादक यन्त्रो के कारखाने मानव की आजादी छीन लेते है। नियत समय पर पहुंचने और अपने अधिकारी को खुश रखने की बला भी उसके पीछे लग जाती है। वहाँ न तो खुली हवा मिलती है, और न घरेलू वातावरण ही। सन्त कबीर कपडा बुनते-बुनते उपदेश देते और कविताएं भी रचते रहे—

झीनी झीनी हो बीनी चदरिया!
आठ कमल दल चरखा डोले
पांच तत्व गुन तीनी चदरिया!

यह शुभ सस्कृति केन्द्रित-यन्त्रोद्योग में सभव कहाँ? नित्य उपयोगी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओ के बीच यन्त्रो को ला बैठाना अपने हाथो अपने को पराधीन बना लेना है। हाँ, छोटे-मोटे यन्त्रो की शोध करके इन कामो मे कुछ सुलभता लायी जाय तो

कोई हर्ज नही। फिर भी यह अवश्य ध्यान रहे कि हस्त-कला, शरीर-श्रम, स्वावलम्बन, घरेलू वातावरण, स्वातन्त्र्य, शुभ सस्कृति--इन सबका उसमें निरन्तर सरक्षण होता रहे। इतना ही नही, इन सबकी उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती रहे। सारांश, अत्युत्पादक यन्त्रो का नित्योपयोगी वस्तुओ को छोड़कर घड़ी, साइकिल, विभिन्न औजार आदि के निर्माण में उपयोग अनुचित न होगा। किन्तु देश का जीवन विगाडनेवाले यन्त्र, श्रम-प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य ही है।

विनाशक यन्त्रोत्पादन अनावश्यक

तोप, वन्दूक, वम के कारखाने जैसे विनाशक यान्त्रिक साधनो की मानव को कतई जरूरत नही है। निश्चय ही इनके लिए श्रम करना उसका अपव्यय ही है।

पूछा जा सकता है कि जव तक सभी राष्ट्र, विशेषकर पडोसी राष्ट्र इन विनाशक यान्त्रिक साधनो के निर्माण से विरत नही होते, तव तक हम इनका निर्माण वद कर दे तो काम कैसे चलेगा? आधुनिक युद्ध का सीधा अर्थ यह है कि जव युद्ध प्रत्यक्ष युद्ध के रूप में न चल रहा हो, अर्थात् जव आत्म-संरक्षण या चढाई की तैयारी के लिए लड़ाई न हो, तव विनाशक श्रम द्वारा विधायक श्रम नष्ट करते जायं और प्रत्यक्ष लडाई शुरू हो जाने पर विनाशक श्रम से वनी हुई यह सामग्री ही एक-दूसरे के ऊपर फेंककर नष्ट की जाय तथा रहे-सहे जीवन के विधायक साधन भी नष्ट कर दिये जाय। इसलिए यदि अन्य राष्ट्र ये विनाशक प्रयास अपनायें और हम भी इसमें उन्हें मदद दें तो वह कभी

उचित नही कहा जा सकता। इसके विपरीत हमें अपनी रचनात्मक शक्ति ही बढानी चाहिए और उसीमे सारी बुद्धि लगानी चाहिए। श्रम के आधार पर खडी हमारी समाज-रचना ऐसी हो कि विनाशक शस्त्रो के बल पर आक्रमण करके आक्रामक हमसे कुछ भी लाभ न उठा सके।

श्रमनिष्ठा का अन्तिम लक्ष्य

वस्तुत श्रमनिष्ठा का राष्ट्रीय, मानवीय, मौलिक, व्यापक और उदात्त लक्ष्य यही है कि अपने राष्ट्र में और विश्व भर मे ऐसी स्वावलम्वी, सत्याग्रही श्रमशक्ति पैदा हो, जो किसी भी प्रकार के विनाशक आक्रमण का मुकावला करने में पूर्ण सक्षम रहे। जिस तरह कोई भी व्यक्ति हिमालय जैसे पर्वतराज के विरुद्ध आक्रमण करने की कभी नही सोचता, उसी तरह स्वावलम्वी और रचनात्मक श्रमनिष्ठ समाज के विरुद्ध लडाई लडने की पहले तो किसीकी इच्छा ही न होगी और यदि हुई भी तो वारवार वह उसमें असफलता पायेगा और अन्त मे भस्मासुर की तरह स्वय ही भस्म हो जायगा। यही श्रमनिष्ठ समाज के अन्तिम उत्कर्ष की स्थिति है।

सच्ची उच्च संस्कृति

आजकल उच्च सस्कृति की यह कल्पना पेश की जाती है कि 'यन्त्रादि की सहायता से जहाँ तक हो सके, कम-से-कम श्रम कर शेप समय में नाच,गाना, अभिनय, चित्र आदि कलाओ में मानव-जीवन विताया जाय।' किन्तु श्रम-प्रवान जीवननिष्ठा में उच्च

सस्कृति की कल्पना इस तरह जीवन के खण्ड-खण्ड कर के नही की गयी है। श्रम करता हुआ ही हमारा कृपक तुकाराम के 'अभग' और तुलसी के 'दोहे-चौपाइयाँ' गायेगा। आटा पीसते समय चक्की (के स्वर) पर ही 'मोरोपन्त' (मयूर कवि जो, मराठी के वहुत प्रसिद्ध आर्यादि सस्कृत गीतिकाव्यकार हो गए है) के सीता-गीत, सावित्री-गीत गाये जायगे। ग्रामोद्योग की यही तो खूवी है कि उसमे सस्कृति मिलाकर सुलभता से काम किया जाता है। किन्तु यन्त्रोद्योग मे—तीव्र एकागी काम मे यह सभव नही।

उच्च सस्कृति का यह मतलव नही कि इन्द्रियो के सभी अरमान या चोचले पूरे किए जायँ। नाचना, गाना, अभिनय करना या चित्रकला कितनी भी वढ जाय, पर यह सव उच्च सस्कृति की ही द्योतक होगी, ऐसी वात नही। काम के समय के वाद का अध्ययन, सगीत, भजन, ग्रन्थ-लेखन आदि करने मे हर्ज नही, उसमे कोई वुराई नही है, पर यदि यह अवस्था हो कि 'कव काम खत्म हो और कव हम सिनेमा जायँ'—तो वह 'नीच सस्कृति' ही कही जायगी।

जिस तरह किसी फल मे माधुर्य, सौन्दर्य, तुष्टि आदि सव तत्त्व अनजाने मिले रहते है, ठीक उसी तरह श्रमप्रधान जीवन निष्ठा मे श्रम के साथ ही उच्च सस्कृति के सभी गुण मिले-जुले होते है। मार्के की वात यह है कि इस श्रमप्रधान जीवन-निष्ठा मे उच्च सस्कृति की वह हास्यास्पद खण्डित कल्पना नही, जिसमे यह वताया गया हो कि 'पहले आटे की फकी मारो, फिर घी पियो, अन्त मे चीनी चाटो और वस लड्डू खाने का आनन्द मान लो!'

रक्षण के गुणो मे दान का यह स्पष्टीकरण किया है—'दानं देयेपु मुक्तहस्तता' अर्थात् खुले हाथो देना ही दान है।

दानकी सर्वोच्च भूमिका अहन्ता-दान

गगा आगे वढती-वढती अन्त मे समुद्र मे इस तरह जा मिलती है कि वह स्वय भी शेष नही रह जाती। उसी तरह दान भी देते-देते अन्त मे स्वय दाता ही दे दिया जाता है। यो तो सागर मे असख्य गागरें भरी है, पर यहां दाता के दिए जाने का मतलव 'गागर में सागर को समा लेना' है। यह दान पूर्ण अहता का दान है। किसी वस्तु में अपना जो ममत्व होता है उसे त्याग देना, उस पर से अपना स्वामित्व विसर्जन करना ही दान है। ममता का यह दान करते-करते किसी समय अहता का भी दान हो जायगा। यही दान की सर्वोच्च कल्पना है। जिस तरह श्रमनिष्ठ जीवन की सर्वोच्च कल्पना यह है कि 'उस (श्रमनिष्ठ) पर कोई आक्रमण नही कर सकता और न श्रमनिष्ठ ही किसी पर आक्रमण करेगा' उसी तरह दान की भी सर्वोच्च कल्पना यह है कि 'दाता पर ममता-अहता का आक्रमण न हो और न दाता ही ममता-अहता पर आक्रमण करे।' मतलव यह कि न तो दाता कभी ममता-अहता के पीछे लगेगा और न अहता-ममता ही दाता के पीछे लगेगी। दान की यही सर्वोच्च अवस्था है।

दान में वस्तु से 'वृत्ति' महत्त्वपूर्ण

यही कारण है कि दान में 'कितना दिया गया' यह मुख्य नही, 'किस वृत्ति या भावना से दिया गया' इसी का महत्त्व है। एक

गरीब के पास बहुत ही कम जमीन थी। उसने भूदान-यज्ञ मे उसमे से आधी दान कर दी। जब उससे पूछा गया कि 'तुम्हारे पास तो किसी तरह गुजारे भर की जमीन थी, तुम्हे भूदान में उसे देने की क्या आवश्यकता थी?' तो उसने कहा—'क्या गरीब पुण्य न करे, केवल श्रीमान् ही पुण्य कर सकते है?' सचमुच यह भूदान करनेवाला लाखो एकड भूमि देनेवाले श्रीमानो, राजे-रजवाड़ो से कही अधिक श्रीमान् है, इसमे कोई सन्देह नही। कारण उसके पास दिल की अमीरी है।

दान देने से जहाँ वस्तु सचित होकर निरुपयोगी पड़ी रहने से बचकर समाज के काम आती है, वहाँ सम्पत्ति बढ़ती भी है और उसके कारण समाज से दरिद्रता भी दूर हो जाती है। साथ ही दाता की संकुचित वृत्ति नष्ट हो कर उसका हृदय विशाल हो जाता है। फलस्वरूप समाज अन्तर्बाह्य ऐश्वर्य से युक्त होने लगता है।

दान मे यह कजूसी कभी नहो रहती कि 'अमुक के पास अधिक धन है तो उसे हम क्यो न ले ले?' या 'अमुक इतनी अधिक वस्तुओ का उपयोग क्यो करे?' इसके विपरीत दान मे ऐश्वर्य की यह भूमिका पायी जाती है कि 'मेरे पास जो कुछ है, उसे सबको किस तरह बाँट सकूं?' दान मे यह भी वृत्ति नहो रहती कि 'अमुक के पास अमुक वस्तु है, तो उसे छीनकर सबको कैसे बाँटूं?' इसी तरह दान मे यह कल्पना भी नही है कि 'अमुक के पास अमुक वस्तु की बहुतायत है, फिर भी वह उसे नही देता तो उसे किसी तरह देने के लिए विवश किया जाय!' वहाँ तो न देनेवाले को अपना बना लेना और अपना विचार उसे भली-भाँति समझा देना ही मुख्य माना गया है। जब वह हमारा बनकर

हमारे विचार का कायल हो जायगा तो फिर वह कभी भी अपने पास आवश्यकता से अधिक रख ही नही सकता।

विचार और भावना का दान

आखिर हमारा दान का विचार दूसरो की समझ मे क्यो नही आता? कारण स्पष्ट है। हमारे विचार में ताकत नही। यदि विचार के पीछे आचार, भावना, बोध, तपस्या और शुद्धता की प्रचण्ड शक्ति हो तो निश्चय ही हमारा विचार दूसरो की समझ मे आकर रहेगा। भला, सूर्य-प्रकाश मे कभी अन्धेरा टिक सकेगा? कारण सूर्य के पास प्रकाश की प्रचण्ड शक्ति जो है!

दान मे वस्तु मुख्य न होकर अन्त करण ही मुख्य है। दान से बुद्धि और अन्त करण की परम शुद्धि और विकास ही अपेक्षित होता है। इसीलिए शक्तियुक्त विचार-दान की तरह ही भक्ति-युक्त भावना-दान भी सर्वश्रेष्ठ दान है। समाज मे श्रेष्ठ या उच्च भावनाओ का निर्माण और श्रेष्ठ जीवन-मूल्यो को बद्धमूल करना ही भावना-दान है। यह भावना-दान बडे पैमाने पर तभी हो सकता है, जब कि व्यक्ति की भावना विशाल, उच्च और गभीर हो।

इसीलिए स्पष्ट है कि दान मे क्षुद्र मनोवृत्ति कभी भी गवारा नही की जा सकती। यदि कोई अपने नाम के लिए दे, तो कहना होगा कि देने और लेनेवाले दोनो ही दान का मर्म कतई नही जानते। वह दान 'हीन-दान' ही कहा जायगा। कुछ लोग कहते है कि 'यदि कोई किसी इमारत पर अपना नाम रखना चाहता है और उसके बदले मे लाख रुपया देना चाहता है तो उसे लेने में हर्ज ही क्या है? आखिर इस तरह बैठे-बैठाये एकदम इतने रुपये

कहाँ से मिलेंगे? लोक-सेवा के काम तो आयेंगे?' किन्तु इन लाख रुपयों का लोक-सेवा में व्यय होने की बात गलत है। ऐसा कहने में वास्तविक लोक-सेवा-वृत्ति नहीं है। अवसरवादिता से लोक-सेवा कभी नहीं हुआ करती। कितने तो इससे भी दो कदम आगे बढ़ कर कहते हैं कि 'सेठजी! इतने रुपये दे दीजिए, आपका नाम हो जायगा।' पर ध्यान रहे कि नाम का प्रलोभन देकर किसी तरह लोक-सेवार्थ पैसे उगाहना लोकसेवक की क्षुद्रवृत्ति ही मानी जायगी। यहाँ साधन की शुद्धि नहीं है।

सात्विक दान ही दैवी वस्तु

इसीलिए गीता में दान के तीन भेद बताकर उनमें सात्विक दान को ही ग्राह्य और राजस-तामस दान को त्याज्य बताया गया है। वहाँ सात्विक दान का लक्षण बताया गया है—

'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥'

—गीता १७।२०

अर्थात् योग्य देश यानी योग्य कार्य में, उचित समय में जो उत्तरोत्तर पुण्य प्रेरणा का बीजारोपण करता रहे, ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को कर्तव्य-भावना से किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए, जो दिया जाता है, वह सात्विक दान है।

इस सात्विक दान का लक्ष्य समाज में दैवी भाव का निर्माण करना है। इसीलिए शंकराचार्य ने दैवी भाव या दैवी गुणों के अन्तर्गत दान का यह स्पष्टीकरण किया है—'दानं यथाशक्ति संविभागः' अर्थात् दान का अर्थ है, समुचित विभाजन। समाज में

जो अनुचित विभाजन हो, विषमता आ गयी हो, उसे मिटाने के लिए समुचित विभाजन करना दान की प्रक्रिया है। जहाँ विषमता आये और अनुचित विभाजन हुआ हो, वहाँ दैवी भाव रह ही नही सकता। साराश, दैवी सस्कृति की स्थापना के लिए दान या सम्यक् विभाजन अत्यन्त आवश्यक है और वह अहिसा द्वारा भलीभाँति होना चाहिए। इसलिए दान का यह नित्य-सूत्र होना चाहिए—'दान सम्यक् विभाजनम्, सम्यक् प्रकारेण', कारण 'येन केन प्रकारेण' सम्यक् विभाजन हो ही नही सकता।

दान से सामाजिक कमी की पूर्ति

दान के विषय मे 'गीता-प्रवचन' में पूज्य विनोबाजी ने काफी विवेचन किया है। यज्ञ से सृष्टि की, दान से समाज की और तप से शरीर की कमी पूरी करने का यत्न किया जाता है। इसीलिए साधक के लिए गीतोक्त यह त्रिविध कार्यक्रम बताया गया है। इसीलिए यह दान नैमित्तिक न होकर नित्यकर्म है, यह बात इस विवेचन से स्पष्ट हो जाती है। इस पर सहज ही प्रश्न उठता है कि फिर नैमित्तिक और धार्मिक रूढि के दान या किसी समय गरीबो को दिये जानेवाले दान की क्या व्यवस्था होगी? इस पर यही कहा जायगा कि उसके लिए दानखण्ड (हेमाद्रि), दानमयूख, दानचन्द्रिका, दाननिरूपण आदि अनेक ग्रन्थ बने है। हेमाद्रि के 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में 'दानखण्ड' नाम का एक स्वतत्र प्रकरण है। किन्तु स्पष्ट है कि सर्वोच्च दान-कल्पना की दृष्टि से ये सभी दान गौण है। सामाजिक क्रान्ति की

दृष्टि से भी इनका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है, यद्यपि समाज मे इस प्रकार के दानो का परिणाम या प्रभाव कम नही दीखता। इसीलिए 'मधुकर'[1] के प्रसिद्ध लेख 'दान और त्याग मे पूज्य विनोबाजी ने गरीबो को दिए जानेवाले नैमित्तिक दान को ऊपरी मरहम पट्टी और त्याग को खाने की दवा कहा है। सचमुच ही आज कर्मकाण्डोक्त दान को नयी प्रेरणा देना अत्यावश्यक हो गया है।

दान में दाता-प्रतिग्रहीता का वर्गभेद नहीं

जैसे दान देना कर्तव्य है, वैसे ही उसे लेने मे भी क्या दीनता या लज्जित होने का भाव है? यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। वास्तव मे जो भूमिदान ले, वह समाज का प्रतिनिधि बनकर ही उसे ग्रहण करे। तव उसमे वह जो पैदावार करेगा, सारी उसीकी न होकर उसमे समाज का भी कुछ भाग नियत रहेगा। इस दृष्टि से देखा जाय तो जैसे योग्य दान देना बडप्पन न होकर कर्तव्य ही है, ठीक वैसे ही उसका लेना भी दीनता न होकर कर्तव्य ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत अपने पास अयोग्य रीति से अधिक जमीन, अधिक साधन-सम्पत्ति जमाये रखने का पाप दान से धुल जाता है, और दान लेनेवाले ने तो यह पाप ही नही किया है। अत उसके दान लेने मे किसी भी तरह की मानहानि नही है। यह उसका हिस्सा ही है।

---

१. 'मधुकर' प्रकाशक—ग्राम सेवा मंडल, गोपुरी, वर्धा

साथ ही दान लेनेवाले को भी दान से वंचित न रहना चाहिए। इसीलिए जैसे दान लेनेवाला ब्राह्मण और उसे देने-वाले क्षत्रिय आदि इस प्रकार दो वर्ग बन गए है, वैसे ही 'दान देनेवाले' और 'लेने वाले' इस तरह के दो वर्ग बनाने की कल्पना ठीक न होगी। जमीन या अन्य साधनो का दान लेनेवाले दरिद्र से-दरिद्र व्यक्ति को भी दान से कभी विरत न रहना चाहिए। उसे भी यथाशक्ति दान करते ही रहना चाहिए।

तीसरा प्रकरण

[श्रम-दान-सम्बन्धी विवेचन]

श्रमदान सर्वश्रेष्ठ दान

जिस दान मे पूर्वोक्त सार्वभौम दानशक्ति निहित है और जो समाज की समस्त साधन-सम्पत्ति, समृद्धि एव बुद्धि-वैभव का मूल है, वही 'श्रम-दान' है। जिनके पास विशेष बुद्धि है, जमीन और अन्य साधन-सम्पत्ति प्रचुर है, वे तो उन-उन चीजो का दान कर सकेंगे, पर जिनके पास ये चीजे सर्वथा न हो या बहुत ही कम मात्रा मे हो, वे किसी भी तरह दान न कर सकेंगे। फलत. दाता और प्रतिग्रहीता (देने और लेनेवाला) ये दो वर्ग बनकर ही रहेंगे। किन्तु यह वर्गभेद न करके भूमि को स्वर्ग बनाने की शक्ति यदि किसी दान मे है और वर्गविहीन समाज बनाना है, तो उसका एकमात्र उपाय श्रमदान ही है। इसलिए जिस तरह किसी असाधारण पुरुष द्वारा किया गया विचार और भावना का दान असाधारण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, उसी तरह साधारण पुरुष द्वारा किया जानेवाला श्रमदान भी सार्वत्रिक और मूलभूत दान सर्वश्रेष्ठ दान माना जायगा।

श्रमदान के लिए श्रमशक्ति का संग्रह आवश्यक

इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'सभी लोग श्रम कहाँ कर सकते है ? मध्यम और श्रीमान् लोग आज इतनी

गिरी हुई हालत मे है कि उनसे अन्य दान करते ही नही बनता और न श्रमदान ही सभव है, क्योकि उनसे परिश्रम होता ही नही, उनमें श्रमशक्ति का सर्वथा अभाव है। फिर वे श्रमदान कैसे करें ?'' वात ठीक है। किन्तु श्रमशक्ति से हाथ धोया हुआ व्यक्ति उसे पुन कमा ही नही सकता, ऐसा थोडे ही है ? अभ्यास से श्रम-शक्ति पुन पायी जा सकती है। वास्तव में प्रत्येक के लिए श्रमशक्ति का अर्जन अनिवार्य है, भले ही कोई श्रीमान् हो या वुद्धिमान्। पूज्य वालकोवाजी वर्षो तक तपेदिक से पीडित हो खटिया पर पडे थे। पर अपनी सतर्कता, अभ्यास और योग द्वारा उन्होने क्षय-रोग को तो जड-मूल से मिटा ही डाला, घन्टो घूमने और फावडा भी चलाने लग गये। १०-१०, १५-१५ मील की मजिलें तय करने लगे। उच्च और मध्यम वर्ग के लोग क्षय-रोगी से अधिक कमजोर तो नही माने जा सकते। अत स्पष्ट है कि उनके लिए अभ्यास द्वारा श्रमशक्ति का अर्जन असभव नही।

श्रमदान के प्रकार और विषय

इसके सिवा, श्रमदान मे विविधता का अभाव थोडे ही है। सभी वस्तुओ की तरह उसमें भी हल्का श्रम, मध्यम श्रम और तीव्र श्रम का तर-तम-भाव है ही। सूत कातना हल्का श्रम है। जमीन की खुदाई जैसा तीव्र श्रम करनेवाले के लिए तो वह विश्राम ही मालूम पडेगा। इसलिए श्रमदान में वस्तुत किसीको कोई आपत्ति हो ही नही सकती। केवल श्रमदान की वृत्ति चाहिए।

आज देश मे लाखो एकड जमीन परती पडी है। गोडाई कर के उसे खेती योग्य वनाना है। हजारो गाँवो में सडके वनानी

है। यात्रियो के लिए गाँव-गाँव में चौपाल तैयार करनी है। मैले की खाद प्रायः सर्वत्र व्यर्थ नष्ट हो रही है, अत. उसके समुचित उपयोग के लिए गड्ढेवाले पाखाने और वरसात के लिए छाजन-दार पाखाने वनाने है। पत्तियो के ढेर के ढेर यो ही व्यर्थ नष्ट हो रहे है, उनके उपयोगार्थ जगह-जगह कम्पोस्ट के सैकड़ो गड्ढे वनाने है। पाठशालाओ के लिए गाँव-गाँव सैकड़ो छोटी-छोटी झोपडियाँ तैयार करनी है। छोटी-छोटी नदियो का पानी व्यर्थ वहा जा रहा है, उसे रोकने के लिए छोटे-छोटे वाँव वाँधने है। जगह-जगह सिंचाई के लिए कुंए खोदने है। हजारो खेतों में चकवन्दी करनी है। जगह-जगह उपयोगी पेड लगाने है, सफाईका काम करना है। दलदल प्रदेश मे छोटी-छोटी पुलियाँ वनानी है। क्या ये सारे काम सरकार कर सकती है? ये काम श्रमदान से ही हो सकते है। इन कामो के करते समय गरीव-अमीर, छोटा-वडा, शिक्षित-अशिक्षित, सरकारी-गैरसरकारी, स्त्री-पुरुष—सभी प्रकार के भेद भाव भूलने का अवसर और वहुत वडा साधन प्राप्त होगा। इससे राष्ट्र कार्य के निमित्त प्रचण्ड श्रमशक्ति का आविर्भाव होगा।

श्रमदान की आचारनिष्ठा

इसके लिए यह जरूरी नही है कि श्रमदान के वारे मे वहुत धूमधाम मचायी जाय, उसके फोटो लिए जायं, उस पर वड़े-वड़े भडकीले लेख लिखे जायं। कितने ही लोग यह समझते है कि इनसे प्रचार होगा। दूसरो को किसी वात की जानकारी कराने मे हर्ज नहीं, परन्तु दूसरे के लिए और केवल प्रचार के लिए हमे श्रमदान नहीं करना है। यह विचर हमे जंच गया है, इसलिए

अपने आचार के लिए, अपने कल्याण के लिए ही श्रमदान करना है। साराश, समाज मे यह अटूट कडी बन जानी चाहिए कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक समूह दूसरे समूह को अपने श्रम से महज ही मदद पहुँचाता रहे।

कुछ आदर्श श्रमदान

विनोवाजी ने श्रमदान के सिद्धान्त पर ही ब्रह्मविद्या की नगरी काशी मे 'स्वच्छकाशी'-आन्दोलन चलाकर सवको यह अनुभव करा दिया कि 'सा काशिकाऽह निजवोध-रूपा।' उत्तर प्रदेश में छात्रो और अन्य लोगो ने श्रमदान द्वारा वहुत से वडे-वडे काम किए है। महाराष्ट्र में भी सेनापति वापट, गोधडे-वोवा, तुकडोजी महाराज अनेक प्रकार के श्रमदान के आयोजन करते और कराते रहते है।

श्रमदान का अन्तिम लक्ष्य

इसी तरह सर्वत्र श्रमदान की ऐसी परम्परा चलती रहे। जैसे शहद की मक्खियो का काम चुपचाप विना होहल्ले के चलता रहता है, वैसे ही हम भी श्रमदान से ही पृथ्वी, आकाश, चन्द्र, सूर्य, तारागण, वृक्ष, वनस्पति और सारी सृष्टिको मगलमय वना दे। इसी श्रमदान के सहारे हम समाज में समानता, सामर्थ्य, समृद्धि, सफाई, शुद्धि, वुद्धि, प्रेम, भक्ति और माधुर्य का निर्माण कर सकेगे। हमारे ऋषिगण भी तो यही प्रार्थना करते है—

सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खमाप्नुयात्॥

छोटी खेती का एक सफल अनुभव

[श्री गोविन्द रेड्डी, सेवाग्राम-आश्रम]

सन् '३६ में पू० बापू ने सेवाग्राम को अपना निवास-स्थान बनाया। तभी से आवश्यक अन्नोत्पादन के लिए वहाँ खेती भी शुरु करवायी। जमीन शुरु में कनिष्ठ दर्जे की ही थी। कांस, मोथा आदि घासों से भरी हुई और पान-थसन (पनिहार्ड) थी। कांस आदि निकालकर, जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर पानी की निकासी के वास्ते प्रबन्ध किया, तब पानथसन थोड़ा कम हुआ। अब जमीन दूसरे दर्जे की बन गयी है। वह काली और सिंचाई के लिए उतनी अनुकूल नहीं है, तो भी सिंचाई करते हैं। सिंचाई के वास्ते पक्की नाली बनायी है।

पू० बापू के बाद आश्रमवाले पू० विनोबाजी से मार्ग-दर्शन लिया करते हैं। विनोबाजी बार-बार कहा करते हैं कि अब आश्रम पैसे के आधार पर नहीं चलना चाहिए। यह बात हम लोग तुरन्त अमल में ला नहीं सके। आखिर ३०-१-'५२ से आश्रम ने तय किया कि वह अपने श्रम पर और फिर भी जरूरत पड़े तो समाज से मिलनेवाले श्रमदान पर ही चलेगा। आश्रम के पास तब ४२ एकड़ जमीन, ६ बैल, ६ गायें थी। अधिकतर काम नौकरों से ही करा लेते थे। खेती घाटे में तो नहीं रहती थी, फिर भी जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं होती थी। जमीन के अन्दर भरी हुई प्रचंड शक्ति खेती के विस्तार के कारण प्रकट नहीं कर पाते थे। जब इस बात का भान हुआ, तो बड़ी खेती के बजाय खुद जितनी खेती कर सकें, उतनी ही रखने की बात सोची। मई, १९५२ में ढाई एकड़ रखकर बाकी पाँच साल के वास्ते चरखा-संघ को दे दी। चंद महीनों के अनुभव से यह पाया कि बिना अपने बैल के सिंचाई करना असुविधाप्रद है। एक जोड़ी बैल रखने की बात सोची। एक जोड़ी के लिए ढाई एकड़ जमीन कम होती है, इसलिए और ढाई एकड़ जमीन ली। एक जोड़ी बैल के साथ एक गाय भी रखी।

पहले साल ढाई एकड़ में से एक एकड़ में बैल से और डेढ़ एकड़ में हाथ से खेती की। डेढ़ एकड़ में आधा एकड़ सिंचाई बैल से करायी। एक एकड़ में ज्वारी और बाकी जमीन में अन्य अनाज, सब्जी, फल, गन्ना आदि थे। डेढ़ एकड़ में १५ प्लाट बनाये थे। पूरे एक साल में ६०२५ घंटे आदमी के और ४८१६ घंटे एक जोड़ी बैल के लगे। कभी-कभी निराई आदि काम पूरा करने की जरूरत पड़ती थी, तब बाहर के मजदूरों को भी लगाया। इस तरह ८०० घंटे मजदूरों से लिये। ये घंटे ऊपर के हिसाब में आ गये हैं।

कुल पैदावार पौंडो मे इस प्रकार हुई ज्वारी २२३२, गेहूँ २८७½, धान २४०, दाल ३५३½, तिलहन १६०, गुड ६४०, भाजी ६४००, फल २५६०, कपास २४२। रुपयो में कुल आय १२७२ रु० ३ आ० १ पा० की हुई, जिसमें से खेती के लिए खाद, बीज, औषधि और बैल-जोडी के किराये के ३९९ रु० तथा ५ आदमियो के धान्य आदि के सिवा अन्य खर्च ७२४ रु० ६ आ० निकाल देने पर आखिरी बचत १४८ रु० १३ आ० १ पा० रही।

योजना का दूसरा वर्ष

सन् १९५३ में पाँच एकड की काश्त की गयी, जिसमें मनुष्यो के ११,४०५ और बैलो के १,४९६ घटे लगे। काश्त की कुल सोलह प्रक्रियाएँ होती है। प्रत्येक प्रक्रिया में लगे घटो की तालिका दी जा रही है।

स्पष्ट है कि बैल की अपेक्षा आदमियो के घटे जमीन की तैयारी, बोआई, निराई आदि में अधिक लगे। इसका कारण यह है कि कई बार हाथ से जुताई, बोनी और निराई की गयी। हाथ-औजार से गुडाई करने से भी आदमी के अधिक घटे लगे।

प्रक्रियाओं में लगा समय

प्रक्रिया का नाम	आदमी के घटे	बैल-जोडी के घटे
जमीन जुताई तैयारी	११३४	६६५
बोआई	८४१	८७
सिचाई	८२९	४२९
निराई	१०५१	—
गुडाई	४२५	१७
खाद ढुलाई-फैलाव	४४२	३५
रखवा,ली	११०	—
सार-संभाल	२८४	—
कटाई	२,५४६	—
गाय-बैल की सेवा	१,७१२	—
कोठार	१५८	—
निरीक्षण	१३६	—
कपोस्ट	४५१	५८
औजार-मरम्मत	२०५	—

प्रक्रिया का नाम	आदमी के घंटे	बैल-जोडी के घंटे
सन् १९५४,७५ की जमीन की तैयारी	४३५	११७
अन्य	६४९	८८
कुल	११,४०५	१,४९६

खाने-पीने की कोई भी चीज बाहर से न खरीदनी पड़े, इस स्वावलंबी दृष्टि से पांच एकड जमीन में अधिक से अधिक जीवनोपयोगी फसलें पैदा की गयी। तालिका इस प्रकार है :

पैदावार

फसल	मन—सेर	रु० आ०
अनाज	५४—१०	९७८— ८
कपास	२—३०	८३— ०
तिलहन	१५—३०	३५९— ०
गुड	६— ०	१२०— ०
गन्ना	—	३०९— ०
केले	—	९८— ८
फल	४०— ०	३००— ०
सब्जी	१०६— ०	७९५— ०
मसाले	१— ५	७३— ८
दूध	२९—३०	६२५— ०
कुल कीमत		३७३८— ८

हमारे प्रयोग में इस वर्ष दो कठिनाइयां भी रहीं।

१ सन् '५३ में गरमी ११८ डिग्री तक पहुंच गयी थी। इस कारण केला, पपीता, आम आदि की फसल को बहुत नुकसान हुआ।

२. सन् '५३ में वर्षा ३९·९५ इंच हुई। अत यहां की जमीन मशहूर पनिहाई जमीन होने से ज्वारी की फसल मर गयी। ऐसी जमीन के लिए ज्यादा-से-ज्यादा ३० इंच वर्षा पर्याप्त होती है।

परिणाम

१ पांच एकड में जो पैदावार हुई, वह संतुलित आहार तथा प्रति व्यक्ति २५०० क्यालोरी के अनुपात से सात व्यक्तियों के लिए पर्याप्त है।

२ प्रति दिन छह घटे के हिसाब से पॉच आदमियो ने काम किया है। सात व्यक्तियो को सतुलित आहार मिला है। एक कुटुंव मे लगातार काम करनेवाले पॉच व्यक्तियो का मिलना कठिन होता है। ऐसी हालत मे छोटी खेती द्वारा एक कुटुंव का सतुलित आहार से जीवन-निर्वाह करना हो, तो काश्त के ढग को वदलना होगा। वदलने का अर्थ है, दो एकड की काश्त मे एक परिवार का जीवन-निर्वाह हो। दो एकड मे छह हजार घटे श्रम करना होगा। काश्त के लिए छह घटे मेहनत इसलिए मानी गयी कि कपडे के लिए कताई तथा पठन-पाठन के लिए भी समय निकालना होता है।

३ काश्त की सभी प्रक्रियाएँ ठीक-ठीक अनुपात मे होनी चाहिए, नही तो वहुत नुकसान की सभावना रहती है।

४ कृपि-शिक्षण के स्कूल-कॉलेजो मे ऐसी व्यवस्था हो कि मौसम के समय छुट्टी रहे और विद्यार्थी किसानो की मदद करे।

५ छोटी खेती मे वैल का खर्च नही पुसाता। उसके लिए पर्याप्त चारा भी नही मिल पाता। सिचाई की व्यवस्था हो, तो वैल को काम तो मिलेगा, पर चारा पाना कठिन ही है। अत वैलो का उपयोग सहकारी ढग से हो।

परिश्रम-निष्ठा का असर

परिश्रम से वचित रहने से क्या असर होता है, उसकी अपनी ही एक मिसाल देता हूँ।

१९४२ से १९५० के दरमियान जेल और आश्रम मे शरीर-श्रम से मै वचित रहा, तो एक फर्लांग चलना, एक वाल्टी पानी उठाना तक मुश्किल हो गया था। उसी अवस्था मे भगवान् वुद्ध का एक वचन पढा, जो वीमार शिष्य को उन्होने वताया था - "वीमारी से मुक्ति पाना हो, तो ४०० या ५०० मील पैदल तीर्थ-यात्रा करो या फिर ४०० या ५०० जानवरो को पानी पीने के लिए अकेले ही तालाव खोदो।" इन दोनो के वारे मे मैने वहुत सोचा और १९५० मे किसीको न कहते हुए चुपके से पैदल-यात्रा के लिए आश्रम से वाहर निकला। छह माह मे १५०० मील घूमा, तव इतनी शक्ति आ गयी थी कि एक दिन मे ४० मील तक घूम सका। उसके वाद आश्रम मे वापस आया और खेती का काम शुरू किया। भगवान् वुद्ध के दूसरे वचन का, याने खोदने का महत्त्व भी रोजमर्रा देखता हूँ। एक दिन शरीर-श्रम न हो तो वेचैनी-सी होती है।

○